बौद्धाचार्य वसुबन्धु

सम्पादक
डॉ. सूर्यप्रकाश व्यास

लेखक
डॉ. मुनिराम तिवारी

प्रशान्त प्रकाशन, वाराणसी

बौद्ध विद्या का मूल स्रोत बुद्ध-वचन हैं और इन्हीं की विभिन्न व्याख्याओं ने विविध सम्प्रदायों, ग्रन्थों एवं आचार्यों का प्रादुर्भाव किया। वसुमित्र, नागार्जुन, असङ्ग, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, धर्मत्रात, आर्यशूर, आर्यदेव, शान्तरक्षित, शान्तिदेव आदि आचार्य बौद्ध आकाश के ऐसे ही दैदीप्यमान नक्षत्र हैं। इन सबमें वसुबन्धु अपने जीवन और कृतित्व के कारण विलक्षण प्रकाशपुञ्ज [illegible] में अपनी प्रतिभा की आभा लगभग १६०० वर्षों से फैलाते रहे हैं।

विवाद वसुबन्धु के जीवन की नियति बन गये हैं। इनका सम्बन्ध मुख्य रूप से आविर्भाव, काल, परिवेश, व्यक्ति की एकता, सम्प्रदायभेद, रचना-संख्या आदि से है।

एक ओर उनकी रचनाएँ बीस से तीस कारिकाओं और गद्य-पृष्ठों के लघु-ग्रन्थ के रूप में सिमटी हुई हैं तो दूसरी ओर लगभग छ: सौ कारिकाओं के विशाल आकार में भी व्याप्त हैं। जब वसुबन्ध के रचना-संसार की बात आती है तो उनके अध्येताओं को यह जानकर निराशा होती है कि उनका अधिकांश साहित्य अनुपलब्ध है।

अत: उनके व्यक्तित्व और कृतित्व का हिन्दी में आकलन इस ग्रन्थ की ऐतिहासिक विशेषता है।

आचार्य रामचन्द्र द्विवेदी स्मृतिग्रन्थमाला : पञ्चम पुष्प

बौद्धाचार्य वसुबन्धु

सम्पादक

डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास

जैन-बौद्ध दर्शन विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

प्रणेता

डॉ० मुनिराम तिवारी

प्रकाशक

प्रशान्त प्रकाशन

१२८, बालाजी कॉलोनी, नगवा, वाराणसी-२२१००५

बौद्धाचार्य वसुबन्धु
Bauddha Ācārya Vasubandhu

प्रथम संस्करण : 1999

मूल्य : रुपये 200.00

प्रकाशक

प्रशान्त प्रकाशन
128, बालाजी कॉलोनी
सामनेघाट, नगवा,
वाराणसी-221005
फोन : 366066

कम्पोंज़िग

सरिता कम्प्यूटर्स
डी॰ 56/48 ए, औरंगाबाद,
वाराणसी-221010
फोन नं॰ : 359521

प्राक्कथन

आज का विश्व जिन अपेक्षाओं से बौद्ध विद्या की ओर निहार रहा है उनका सम्बन्ध इतिहास, धर्म, दर्शन, आचार, योग, मनोविज्ञान, कला, भाषा, शिक्षा, संस्कृति, जीवन-मूल्य, अन्तर्देशीय सम्बन्ध आदि से है। ढाई हजार वर्षों के सुदीर्घ काल से भारत सहित अनेकानेक देशों में प्रसृत इस विचारधारा का साहित्य नाना भाषाओं में लिखा गया एवं इसने उनकी सभ्यता और संस्कृति को प्रभावित किया। यह समस्त साहित्य और इसके साथ विकसित स्थापत्य, चित्र और मूर्तिकलाओं की अद्भूत कृतियाँ केवल भारत और बौद्ध धर्म की ही नहीं, अपितु विश्व-इतिहास की अमूल्य ऐतिहासिक धरोहर है। यह धरोहर विश्व-मानव की प्रज्ञा और उसके शील के विकास का अपने ढंग से इतिहास प्रस्तुत करती है। इस विद्या ने श्रेष्ठतर संसार और पूर्ण मानव के निर्माण हेतु बौद्धिक, मनोवैज्ञानिक, आध्यात्मिक और व्यावहारिक विधाओं के विकास में अपूर्व योगदान किया है। अतः अर्थ और यन्त्र के इस आधुनिक युग में भी समाज को यदि श्रेष्ठ बुद्धि, निर्मल मन, कल्याणकारी विचार और करुणापूर्ण व्यवहार आदि की आवश्यकता है और यदि ये मूल्य प्रासङ्गिक हैं तो स्पष्ट है कि बौद्ध विद्या की पूर्ववत् उपयोगिता आज भी है। अर्थात् आज भी बौद्ध विद्या में वे सूत्र और शक्तियाँ विद्यमान हैं जिनसे वह मैत्री, करुणा, अहिंसा, शान्ति, विकास और समृद्धि के लक्ष्यों की ओर अग्रसर होने में विश्व-मानव का नेतृत्व कर सके। देश, काल, जाति, लिङ्ग, सम्प्रदाय, भाषा आदि सीमाओं को अपनी प्रखर प्रज्ञा और शीतल शील से निःशेष करने वाले इस मत का मौलिक स्वरूप क्षणभङ्गुर नहीं, सार्वदैशिक और सार्वकालिक है। बौद्ध विद्या के इसी प्रशस्त प्रासाद के एक सशक्त स्तम्भ आचार्य वसुबन्धु हैं जिनको यशोमित्र 'द्वितीय बुद्ध' के रूप में श्रद्धास्पद मानते हैं। इन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से इतिहास, भूगोल, खगोल, योगविद्या, मनोविज्ञान, तत्त्वदर्शन, कर्मदर्शन, प्रमाणविद्या, तर्ककला आदि आदि अनेकानेक ऐसे विषयों का प्रतिपादन किया है जो बौद्ध प्रतिभा के साथ भारतीय मनीषा के वैभव को भी उद्‌घाटित करते हैं और उसे प्रासङ्गिक बनाते हैं।

बौद्ध विद्या का मूल स्रोत बुद्ध-वचन हैं और इन्हीं की विभिन्न व्याख्याओं ने विविध सम्प्रदायों, ग्रन्थों एवं आचार्यों का प्रादुर्भाव किया। वसुमित्र, नागार्जुन,

असङ्ग, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, धर्मत्रात, आर्यशूर, आर्यदेव, शान्तरक्षित, शान्तिदेव आदि आचार्य बौद्ध आकाश के ऐसे ही दैदीप्यमान नक्षत्र हैं। इन सबमें वसुबन्धु अपने जीवन और कृतित्व के कारण विलक्षण प्रकाशपुञ्ज के रूप में अपनी प्रतिभा की आभा लगभग १६०० वर्षों से फैलाते रहे हैं।

कालिदास और वसुबन्धु में साम्य एक दुष्कर कल्पना है। एक बौद्ध आचार्य और दूसरा ऐसा महाकवि जिसने अपनी सातों रचनाओं को बुद्ध और बौद्ध प्रभाव से सर्वथा शून्य रखा। कालिदास का प्रादुर्भाव-काल चाहे जो माना जाये; वह काल बुद्ध और बौद्ध-मत के प्रभाव का काल अवश्य रहा है। महाकवि की इस असम्पृक्तता का प्रयोजन अज्ञात है किन्तु जहाँ तक विवादों से घिरे होने का प्रश्न है निश्चय ही इस महाकवि और आचार्य वसुबन्धु में साम्य है।

विवाद वसुबन्धु के जीवन की नियति बन गये हैं। इनका सम्बन्ध मुख्य रूप से आविर्भाव, काल, परिवेश, व्यक्ति की एकता, सम्प्रदायभेद, रचना-संख्या आदि से है।

आचार्य वसुबन्धु के जीवन का कथानक बौद्धमत की निरन्तर गतिशीलता से जुड़ा है, उसमें बौद्धमत की भाँति वैविध्य और उच्चावच है, विस्तार और संकोच है, तार्किकता और उपदेशात्मकता है तथा आग्रहशून्यता के साथ प्रभावोत्पादकता भी है।

एक ओर उनकी रचनाएँ बीस से तीस कारिकाओं और गद्य-पृष्ठों के लघु-ग्रन्थ के रूप में सिमटी हुई हैं तो दूसरी ओर लगभग छः सौ कारिकाओं के विशाल आकार में भी व्याप्त हैं। जब वसुबन्धु के रचना-संसार की बात आती है तो उनके अध्येताओं को यह जानकर निराशा होती है कि उनका अधिकांश साहित्य अनुपलब्ध है।

संस्कृत में केवल पाँच रचनाएँ उपलब्ध होती हैं और अनुवादों में इससे कुछ अधिक, जबकि तीन बौद्ध सम्प्रदायों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाले वसुबन्धु के बारे में परम्परा ऐसा मानती है कि उन्होंने प्रत्येक सम्प्रदाय पर पाँच सौ ग्रन्थ लिखे थे। संक्षेप में, वसुबन्धु का संस्कृत भाषा में उपलब्ध साहित्य इस प्रकार सूचीबद्ध किया जा सकता है।सूत्र-१६७, कारिकाएँ-६८८ तथा गद्य भाग लगभग १०० पृष्ठ।

वसुबन्धु के रचना-संसार की व्यापकता, विविधता और गतिशीलता की पृष्ठभूमि में उनकी तीव्र सत्यजिज्ञासा और यायावरवृत्ति रही है। वे उस परम्परा

के प्रतीक हैं जिसमें सत्य के जिज्ञासु के लिए निरन्तर भ्रमण एक अनिवार्य शर्त थी। इस वैशिष्ट्य के कारण उनके विचार, शैली, सम्प्रदाय और विधाओं में निरन्तर परिवर्तन और विकास दिखाई देता है। उनका योगदान बहुआयामी है। जीवनशैली, ऐतिहासिक सूचनाओं के संग्रह की सामर्थ्य, गूढ़ सिद्धान्तों के सरल प्रतिपादन की शक्ति, ग्रन्थ-रचना से सम्प्रदायों को सबल, पुष्ट और सम्पन्न बनाने का कौशल तथा मौलिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन की प्रतिभा आदि सभी कुछ विलक्षण और प्रेरणादायक हैं। इसे विडम्बना ही कहना चाहिए कि जिस देश में इस आचार्य ने भ्रमण किया, साहित्य-साधना की, उसी देश में उनकी रचनाओं का तिरस्कार हुआ और आज वहाँ उसका अल्पांश ही उपलब्ध है किन्तु जहाँ वे रचनाएँ अनुवाद, टीका आदि के माध्मय से पहुँचीं वहाँ उनका पर्याप्त सम्मान हुआ और उसका अधिकांश भाग सुरक्षित रखा गया। यह हर्ष और सन्तोष का विषय है कि अब पुनः इसी देश में वसुबन्धु के अध्ययन की बयार चली है और कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य हुए और हो रहे हैं। आचार्य वसुबन्धु के मौलिक ग्रन्थों के प्रकाशन, अनुवाद और अध्ययन में जिन आधुनिक विद्वानों का ऐतिहासिक योगदान रहा है उनमें कुछ उल्लेखनीय नाम हैं—ताकाकुसु, टी० किमुरा, वोगिहारा, सिल्वालेवी, फ्राउवाल्नर, प्रो० उई, आचार्य नरेन्द्रदेव, प्रो० रामशङ्कर त्रिपाठी, डॉ० सुकोमल चौधरी, स्वामी द्वारिकादास, स्टीफ़न एनेकर, प्रो० महेश तिवारी आदि।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के जैन-बौद्ध-दर्शन विभाग ने अपने शोधार्थियों की युवा ऊर्जा को 'वसुबन्धु' की ओर निर्देशित किया, जिसके फलस्वरूप कुछ प्रारम्भिक कार्य प्रकाश में आए। शोध-योजना का शुभारम्भ पी-एच्०डी० उपाधि के लिए मेरे प्रथम शोधार्थी डॉ० मुनिराम तिवारी से हुआ। इन्होंने श्रमपूर्वक आचार्य वसुबन्धु के 'व्यक्तित्व और कृतित्व' पर उपलब्ध सूचनाओं का व्यापक सर्वेक्षण किया। इसके बाद सुयोग्य शिष्या डॉ० सीमा मुन्शी ने वसुबन्धु के उपलब्ध संस्कृत-ग्रन्थों से लगभग १५०० परिभाषाओं (लक्षणों) का संग्रह, विश्लेषण और विवेचन प्रस्तुत किया। अत्यधिक श्रमसाध्य यह कार्य दो खण्डों में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में शोधोपाधि के लिए प्रस्तुत और स्वीकृत हुआ। यह ऐसा आधारभूत कार्य है जो एक ओर वसुबन्धु की रचनाओं का नवनीत प्रस्तुत करता है तो दूसरी ओर भावी अध्ययनों के लिए आधार का कार्य करता है। वसुबन्धु के ही अध्ययन में अपने जीवन की सार्थकता मानने वाली डॉ० मुन्शी ने उक्त योजना के बाद 'अभिधर्मकोश' के अध्ययन पर अपनी साधना केन्द्रित की जो

पूर्णता की ओर अग्रसर है। विभाग के तृतीय शोधार्थी डॉ० उमेश प्रसाद राय ने आचार्य की अन्य दो रचनाओं 'पञ्चस्कन्धप्रकरण' और 'त्रिस्वभावनिर्देश' के सानुवाद अध्ययन द्वारा इस योजना के सातत्य का निर्वाह किया। ये चारों ही महत्त्वपूर्ण कार्य प्रकाशन की योग्यता रखते हुए भी साधनाभाव के कारण पाठकों तक पहुँचने से वञ्चित रहे हैं। फिर भी अनुसन्धान के साथ प्रकाशन की योजना को साकार करने के लिए येन केन प्रकारेण प्रथम कार्य से शुभारम्भ किया गया जो इस पुस्तक के रूप में पाठकों के समक्ष है।

यद्यपि वसुबन्धु के जीवन और कृतित्व पर यह सामग्री प्राथमिक है तथा इसे पर्याप्त और पूर्ण नहीं कहा जा सकता, फिर भी इस कार्य का अपना ऐतिहासिक महत्त्व है क्योंकि हिन्दी भाषा में वसुबन्धु पर अपनी तरह की यह एकमात्र स्वतन्त्र पुस्तक कही जा सकती है। इस प्रकाशन के साथ यह आशा भी बलवती होती है कि इसी दिशा में किये गये पूर्वोक्त अन्य कार्य भी शीघ्र ही प्रकाशन की वैतरणी पार करके पाठकों के करकमलों तक पहुँचेंगे। इस प्रकाशन के कुछ आवश्यक और दुरूह पक्षों का व्याख्यान आवश्यक था किन्तु सम्पादक की अपनी सीमाएँ रही हैं तथा लेखक की अनुपलब्धता ने उस सीमा को और संकुचित किया है जिसके लिए खेद ही प्रकट किया जा सकता है।

यह पुस्तक आचार्य रामचन्द्र द्विवेदी (१५ जून, १९३५-२७ सितम्बर, १९९३)-स्मृति-ग्रन्थमाला का पञ्चम पुष्प है। आशा है, पूर्व की भाँति यह पुष्प भी भारतीय विद्या के उपवन में सुगन्धि का विस्तार करेगा।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के पूर्व साहित्य विभागाध्यक्ष, आधुनिक संस्कृत साहित्य के वरिष्ठ कवि और हाल ही में माननीय राष्ट्रपति द्वारा सम्मानित डॉ० शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी ने "वसुबन्धुविनतिः" के प्रणयन के द्वारा उनके प्रति अपनी भावाञ्जलि समर्पित की है। इससे पुस्तक को एक अभिनव आयाम मिला है— एतदर्थ उनके प्रति हार्दिक आभार।

इस कार्य को सम्पन्न कराने में मेरे प्रिय छात्रवृन्द डॉ० सीमा मुंशी, डॉ० हरेन्द्रकुमार मिश्र, डॉ० उमेश राय, डॉ० विनीता पाण्डेय, श्रीमती नीरजा खरे, श्रीमती गीता द्विवेदी, कु० ज्योति सिंह, कु० अनामिका सिंह आदि सभी का सहयोग रहा है, एतदर्थ उनको शुभाशिषः। सरिता कम्प्यूटर्स, वाराणसी के पदाधिकारी एवं कार्यकर्ता भी इस प्रसङ्ग में धन्यवादार्ह हैं जिन्होंने प्रस्तुति को सुन्दर एवं आकर्षक स्वरूप देने में अपनी भूमिका का भली-भाँति निर्वाह किया। इत्यलम्।

सूर्यप्रकाश व्यास

गुरुगणेशाः वसुबन्धुविनतिः

डॉ० शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी

आचार्यो वसुबन्धुर्वसूनशेषान्सुबन्धतां नीत्वा।
अन्वर्थकसंज्ञायामात्मानं दर्शयामास।।

वसुपूर्णो बन्धुरयं पर्वतदेशे समुत्पन्नः।
नित्यब्रह्ममयोऽयं ब्राह्मणजातौ समुत्पन्नः।।

तस्माज्जन्मस्थानाद्यायावरतामुपाश्रित्य।
देशाटनं प्रकुर्वन् ज्ञानं प्रत्यक्षयामास।।

बौद्धानां सिद्धान्ताः प्रेष्ठा श्रेष्ठाश्च राजमान्याश्च।
तस्मिन्कालोल्लासे सर्वत्रोल्लासमाजग्मुः।।

वसुबन्धुरयं विद्वान् बौद्धान् सिद्धान्तधौरेयान् ।
स्वीयेऽभिधर्मग्रन्थे सम्यक्प्रतिपादयामास।।

वसुबन्धावाकलितः कश्चित् शोधप्रबन्धोऽयम् ।
वसोबन्धोरार्यस्यानुपमं चित्रं विलोक्यतामत्र।।

आचार्यो वसुबन्धुर्बौद्धे सिद्धान्तमार्गेऽस्मिन् ।
प्रमुखं स्थानं भजते बुद्धादन्यूनमेव वा तत्स्यात्।।

शङ्करभगवत्पादैरारचितस्याथ भाष्यस्य।
आधारमयी भूमिर्व्यासोपनिषच्च गीता च।।

बौद्धावतारवेला विन्यासैरात्मतायाऽऽस्ते।
सापि प्रस्थानत्रयमयता रूपं स्वयं धत्ते।।

व्याकरणेऽपि मुनित्रयनाम्ना प्रस्थानयात्रेयम्।
संख्या त्रितयीमिव तां परामृशति मार्गरचनीयाम्।।

भगवान् बुद्धः स्वामी यद्यज्जगाद् लोकेऽस्मिन्।
तत्सर्वमेवपूर्वं गीतायां कृष्णसंप्रोक्तम् ।।

तस्यैव पुनर्जागृतिरूपं चित्रं परमहोभावे।
नयान्निवाऽयं साक्षात्कृष्णो बुद्धत्वमुपयातः।।

वसुबन्धुरथाचार्यो व्याख्याताऽभिनवगुप्त इव।
शंकरभगवत्पादं साक्षाद्वोपमेयता नयति।।

आचार्यो वसुबन्धुर्बौद्धाचार्यभिगणवेलायाम्।
सर्वप्रथमवरेण्यस्वरूपमाधातुमाक्रमते।।

वयमेतान्वा तान्वा तथाकथितबौद्धधर्मान् ।
लोकान्निवेदयामो श्रीकृष्णोऽयं स्वयं बुद्धः।।

तत्र महावीरोऽयं स्वामी साक्षात् स्वयं कृष्णः।
परम्परेषा दिव्या कथमपि नो विस्मरणयोग्या।।

तेनान्यत्वं कृष्णाद् बुद्धस्यात्राभिमन्वानाः।
वैदेशिका समासन् येषां नासीत्परम्पराज्ञानम्।।

अस्मत्परम्परायां बुद्धो भगवान् तदेव संस्थानं।
लभते यं ननु भगवान् कृष्णो रामः स्वयं लभते।।

सात्विकभावोन्माथे रजोगुणे बुद्धिमायाते।
अग्रे मतावलम्बं कुर्वाणानां मिथो कलहः।।

दोषाणां बाहुल्यं तमोगुणानां प्रभावसौकर्यम् ।
मूलान्युच्छेदयितुं प्रवर्तमानाश्च सफलाश्च।।

बौद्धानां जैनानां भिन्नता येयमार्याणां।
वैदेशिकमूर्धन्यैरारोपितवैभवैव स्यात्।।

वैचारिकसंसारोन्मेषे वेदे यदाभणितुम्।
तदेव सद्विज्ञानं वारं वारं नवीनतां याति।।

सर्वा नवीनतेयं प्रदर्शने प्रस्तुतीकारे।
जीवनमेव तथात्वे परिणमने स्वीयताकरणे।।

एतद्युगानुरूपं सर्वं सञ्जायते नित्यं।
भ्रम एवायं लोको भिन्नत्वं मूलतो यत्र।।

एतादृशविद्वत्ताऽचार्यत्वे संचरणशीलो।
वसुबन्धुरयं साक्षात् बुद्धो नूतनशरीरधारी स्यात् ।।

यदि वसुबन्धुर्न स्यात् तस्य ग्रन्थावलिर्न स्यात् ।
हा, हा, हा कुर्वाणां ज्ञानोद्दीप्ता विलोक्येरन्।

दिङ्नागसमाहर्ता नाना विदुषो प्रणेताऽयं।
वसुबन्धुर्ननु विद्वान् संयात्येवाऽद्य विश्ववन्द्यत्वम्।।

अस्मद्देशादधिकाऽन्यस्मिन् देशास्थिता सन्तः।
यस्याधिक मननावलिमालां संप्रस्तुतवन्त्यद्य।।

शोधग्रन्थोऽयं तु श्रीमद्वसुबन्धुमाचार्यम्।
वर्णयति येन नव्या काचिद्दीप्तिः समायाता।।



विषय-सूची

●

संकेत सूची

संकेत	:	ग्रन्थ
अभिका०	:	अभिधर्मकोशकारिका
अभिको०	:	अभिधर्मकोश
अभिभा०	:	अभिधर्मकोशभाष्य
अभिद्वी०	:	अभिधर्मद्वीप
अभिधर्मस०.	:	अभिधर्मसमुच्चय
अनु०	:	अनुवादक
आन द अभि०	:	On The Abhidharma of the Sarvastivada
आन द थियरी०	:	On the Theory of Two Vasubandhu
इण्डेक्स	:	Index to the Abhidharma Kosa
उपा०भ०	:	उपाध्याय भरत सिंह
एनालिटिक	:	Analitical study of The Abhidharma-kosa
काशी	:	काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका
डेट वसुबन्धु	:	Date of Vasubandhu Seen from the Abhidharmakosa
द डेट वसुबन्धु	:	The Date of Vasubandhu : A Great Buddhist Philosopher
पंच०	:	पंचस्कन्धप्रकरण
बुद्धिस्ट	:	The Date of Buddhist master of Law Vasubandhu

बौद्धइति०	: बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास
बौद्धध०	: बौद्ध धर्म दर्शन
बौद्धमी०	: बौद्ध दर्शन मीमांसा
भारत में बौद्धइ०	: भारत में बौद्ध धर्म का इतिहास, हिन्दी अनुवाद– रिगजिल लुण्डुप लामा
भारतीयसं०	: भारतीय संस्कृति और कला
मविका०	: मध्यान्तविभागकारिका
मविभा०	: मध्यान्तविभागभाष्य
विंका०	: विंशतिका कारिका
विंवृ०	: विंशतिकावृत्ति
विज्ञप्ति०	: विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि
विज्ञप्तिमात्रताप्र०	: विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिप्रकरणद्वय
युवानच्वांग	: Uwanchuwang Travels in India
स्टडी	: A Study of Parmartha Life of Vasu-bandhu and the date of Vasubandhu
सं०	: सम्पादक
सांख्यइ०	: सांख्य दर्शन का इतिहास
सांख्यका०	: सांख्यकारिका
सेवेन वर्क्स	: Seven works of Vasubandhu
सौत्रान्तिकद०	: सौत्रान्तिकदर्शनम्
त्रिंका०	: त्रिंशिकाकारिका
त्रिस्व०	: त्रिस्वभावनिर्देश

●

प्रथम अध्याय

वसुबन्धु का परिचय

आचार्य वसुबन्धु बौद्ध दर्शन के महान् आचार्य हैं। विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न इस आचार्य ने अपने ग्रन्थों के द्वारा बौद्ध धर्म-दर्शन की अद्वितीय सेवा की है। इसीलिए यशोमित्र ने इनके योगदान को स्वीकार करते हुए इन्हें द्वितीय बुद्ध कहा है— 'यं बुद्धिमतामग्र्यं द्वितीयमिव बुद्धमित्याहु:' (अभिस्फु, १.१)।

१. वसुबन्धु के जीवन-परिचय के स्रोत

किसी भी आचार्य के जीवन-परिचय का आधार सामान्यत: अन्त: प्रमाण और बाह्य प्रमाण होते हैं। कभी उस आचार्य के द्वारा रचित ग्रन्थों में उसके जीवन से सम्बन्धित आवश्यक सूचनाएँ या संकेत मिल जाते हैं और कभी समकालीन या परवर्ती विद्वानों के ग्रन्थों आदि में उसके जीवन-विषयक सूत्र न्यूनाधिक रूप में, व्यवस्थित या अव्यवस्थित रूप में, मिल जाते हैं। जहाँ तक अन्त: प्रमाणों का प्रश्न है यह दुर्भाग्य की बात है कि वसुबन्धु के अनेक ग्रन्थ इस विषय में निराश ही करते हैं। वसुबन्धु ने अनेक ग्रन्थ लिखे, संक्षिप्त भी और विस्तृत भी, ग्रन्थों पर भाष्य लिखे, गद्य-पद्य लिखे किन्तु अपने जीवन के विषय में उन्होंने कहीं कोई उल्लेख नहीं किया।

वसुबन्धु के ग्रन्थों के बाद उनके जीवन के विषय में जानने का निकटतम सशक्त माध्यम उनके ग्रन्थों पर लिखे गये भाष्यादि हो सकते थे किन्तु यशोमित्र, स्थिरमति आदि भाष्यकारों व टीकाकारों ने भी अपने टीका-ग्रन्थों में उनके जीवन के विषय में कोई महत्त्वपूर्ण सूचना नहीं दी है। कुछ इतिहासकारों एवं लेखकों ने वसुबन्धु की स्वतन्त्ररूप से जीवनी लिखी है अथवा उन पर लिखे गये स्वतन्त्र ग्रन्थों में उनके विषय में उपयोगी सूचनाएँ दी हैं तथा दूसरी ओर कुछ ऐसे धर्म, दर्शन एवं इतिहास के ग्रन्थ हैं जिनमें प्रासंगिक रूप से वसुबन्धु के जीवन-परिचय का उल्लेख किया गया है।

परमार्थ (४९९ ई०-५६९ई०)[१] ने वसुबन्धु की जीवनी स्वतन्त्र रूप से चीनी भाषा में लिखी थी, जिसका अंग्रेजी अनुवाद ताकाकुसु ने किया है। युआन्च्वाँग

(भारत-भ्रमणकाल-६३३ ई०-६४५ ई०) ने वसुबन्धु की जीवनी से सम्बन्धित सूचनाओं को अपने यात्रा-वृतान्त में प्रसंगानुसार प्रस्तुत किया है— जिसका अंग्रेजी अनुवाद वाटर्स थामस ने किया है। लामा तारानाथ ने 'भारत में बौद्धधर्म का इतिहास' नामक ग्रन्थ तिब्बती में लिखा है जिसमें वसुबन्धु के जीवन से सम्बन्धित कुछ सूचनाएँ मिलती हैं। इसका हिन्दी अनुवाद लामा रिगजिन लुण्डुप ने सन् १९७१ ई० में किया है। तिब्बती इतिहासकार बुदोन ने भी वसुबन्धु की जीवनी से सम्बन्धित कुछ सूचनाएँ दी हैं। स्टीफन एनेकर ने भी "Seven Works of Vasubandhu" नामक ग्रन्थ में वसुबन्धु की जीवनी पर कुछ प्रकाश डाला है।

२. वसुबन्धु के जीवनीकार

वसुबन्धु की जीवनी का सर्वप्रथम लेखक कौन है, यह प्रश्न विवादास्पद है।

फ्राउवाल्नर ने दो वसुबन्धु माने हैं[२]। प्रथम, वृद्धाचार्य वसुबन्धु, जो असंग के अनुज एवं द्वितीय, अभिधर्मकोश के कर्ता वसुबन्धु। अपने मत को सिद्ध करने के लिए इन्होंने-छीङ्-माइ-ची-चाङ् को उद्धृत किया है जिसने कुमारजीव को वसुबन्धु की जीवनी का लेखक बतलाया है। इस जीवनी को फ्राउवाल्नर ने वृद्धाचार्य वसुबन्धु के साथ जोड़ा है एवं इस जीवनी का अवशेष इन्होंने वसुबन्धु की जीवनी में पाये जाने की सम्भावना की है। निष्कर्षरूप में फ्राउवाल्नर ने वृद्धाचार्य वसुबन्धु की जीवनी की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की है।[३]

यद्यपि स्टीफन एनेकर ने भी कुमारजीव को वसुबन्धु की जीवनी का लेखक बतलाया है[४], परन्तु जब तक कुमारजीव द्वारा लिखित वसुबन्धु की जीवनी उपलब्ध नहीं हो जाती, तब तक निर्विवादरूप से कुमारजीव को वसुबन्धु की जीवनी का सर्वप्रथम लेखक नहीं माना जा सकता।

ताकाकुसु ने कुमारजीव को वसुबन्धु की जीवनी का लेखक नहीं माना है।[५] इनका कहना है कि गलती से एक ग्रन्थ-सूची में कुमारजीव को वसुबन्धु की जीवनी का लेखक बतला दिया गया है। इसकी पुष्टि के लिए इन्होंने चीनी-यात्री फा-श्येन (भारत-भ्रमणकाल ३९९ ई०-४१४ ई०) को उद्धृत किया है, जिसने अपने यात्रा-वृतान्त में वसुबन्धु नाम के किसी आचार्य का उल्लेख नहीं किया है। इससे प्रमाणित होता है कि वसुबन्धु का प्रादुर्भाव इस समय तक नहीं हुआ था। इसी तर्क के आधार पर ताकाकुसु ने परमार्थ को वसुबन्धु की जीवनी का सर्वप्रथम लेखक माना है और यही मत समर्थन-योग्य प्रतीत होता है, क्योंकि परमार्थकृत वसुबन्धु की जीवनी उपलब्ध भी है।

३. जन्मस्थान एवं परिवार

विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से आचार्य वसुबन्धु के माता-पिता एवं जाति का उल्लेख किया है। इस प्रसंग में चार विद्वानों के मत द्रष्टव्य हैं।

परमार्थ के अनुसार आचार्य वसुबन्धु का जन्म गान्धार प्रदेश के पुरुषपुर में कौशिक गोत्रीय ब्राह्मण-परिवार में हुआ था।[६] इसी तथ्य का समर्थन युवान्च्वांग भी करते हैं।[७]

परमार्थ के अनुसार[८] आचार्य वसुबन्धु के पिता कौशिक गोत्र के ब्राह्मण थे तथा इनकी माता का नाम विरिञ्चि था। ये तीन भाई थे। इनके बड़े भाई का नाम असंग तथा छोटे भाई का नाम विरिञ्चिवत्स था। ये मध्यम भ्राता थे। परमार्थ के मत से भिन्न युवान्च्वाङ्ग का मत है। इन्होंने वसुबन्धु के छोटे भाई का नाम माँ के नाम पर रखा गया बतलाया है। इनके अनुसार वसुबन्धु के पिता का नाम कौशिक तथा माता का नाम विलिन्दी था। ये तीन भाई थे। बड़े भाई का नाम असंग तथा छोटे भाई का नाम विलिन्दीभव था।[९]

परमार्थ और युआन्च्वाँग—इन दोनों आचार्यों के मतों से भिन्न तीसरा मत तिब्बती इतिहासकार बुदोन का है। इसके अनुसार असंग और वसुबन्धु की माँ एक थी, परन्तु पिता दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे। प्रसन्नशीला नामक ब्राह्मणी तथा एक क्षत्रिय से असंग की उत्पत्ति हुई थी तथा कालान्तर में उसी ब्राह्मणी एवं अन्य ब्राह्मण से वसुबन्धु पैदा हुए।[१०]

आर्य असंग और वसुबन्धु सगे भाई थे। इस सन्दर्भ में तिब्बती इतिहासकार लामा तारानाथ उपर्युक्त मतों से सहमत हैं, परन्तु माता के नाम में मत-भिन्नता है। इनके अनुसार वसुबन्धु की माता का नाम प्रकाशशीला था। इनके पिता वेदों के ज्ञाता, विद्वान् ब्राह्मण थे। आर्य असंग के प्रव्रजित होने के एक वर्ष बाद वसुबन्धु पैदा हुए थे।[११]

४. गुरु एवं शिक्षा

उन्नत और सफल जीवन के लिए गुरु अनिवार्य है। गुरु की शिक्षा ही जीवन को अर्थ एवं दिशा प्रदान करती है। आचार्य वसुबन्धु के जीवन और दर्शन में विविधता एवं व्यापकता है। इन्होंने सुदीर्घ जीवन-यात्रा में समय, परिस्थिति और ज्ञान के विकास के अनुसारर विभिन्न गुरु बनाए तथा उनसे ज्ञान की अनेक शाखाओं का अध्ययन किया।

शिक्षा का प्रारम्भ बाल्यावस्था से होता है। वसुबन्धु की बाल्यावस्था का विवरण अज्ञात है। अत: उनकी प्राथमिक शिक्षा किस स्थान पर, किस गुरु से और किस पाठ्यक्रम का अध्ययन करते हुए पूरी हुई, यह कहना, तथ्यों के अभाव में, सम्भव नहीं है। किन्तु फिर भी इस अनुमान में कोई अनौचित्य भी नहीं है कि विद्याभ्यासी ब्राह्मण परिवार में जन्म लेने के कारण इन्हें प्रारम्भिक शिक्षा अपने माता-पिता और बड़े भाई से मिली होगी। ब्राह्मण परिवार में जन्म लेने के कारण इनकी प्राथमिक शिक्षा का विषय वैदिक साहित्य, धर्म-दर्शन आदि रहे होंगे—यद्यपि उनके ग्रन्थों में प्रत्यक्षत: किसी वैदिक-पौराणिक ग्रन्थ का संकेत नहीं मिलता हैं।

वसुबन्धु बौद्धधर्म और दर्शन की विभिन्न शाखाओं में पारंगत थे। उन्होंने विभिन्न स्थानों की यात्राएँ भी की थीं। अत: यह स्वाभाविक है कि इनके गुरु भिन्न-भिन्न शाखाओं के आचार्य रहे हों। संक्षेप में, वसुबन्धु के गुरुओं के नामों में बुद्धमित्र, मनोरथ, संघभद्र, असंग, जयत आदि प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त कुछ अप्रसिद्ध नामों की भी सूचना इतिहासकारों ने दी है।

वसुबन्धु की स्वतन्त्र जीवनी लिखने वाले परमार्थ ने वसुबन्धु के गुरु का नाम बुद्धमित्र[१२] बतलाया है।[१३] इनसे वसुबन्धु ने हीनयान में दीक्षा ली और गुरु के साथ विहार में रहकर बौद्ध दर्शन का अध्ययन किया।[१४] बुदोन के अनुसार वसुबन्धु ने काश्मीर में संघभद्र[१५] नामक आचार्य से वैभाषिक दर्शन की शिक्षा ग्रहण की।[१६] बुस्टोन के अनुसार वसुबन्धु ने काश्मीर में संघभद्र के सम्प्रदाय में प्रवेश किया।[१७]

लामा तारानाथ के अनुसार वसुबन्धु सर्वप्रथम नालन्दा में प्रव्रजित हुए तथा बाद में अभिधर्म का चरम ज्ञान प्राप्त करने के लिए काश्मीर चले गये और वहाँ आचार्य संघभद्र के पास रहते हुए आचार्य से विभाषा तथा अष्टादश निकायों के समस्त ग्रन्थों एवं तर्क-मतों का अध्ययन किया।[१८] लामा तारानाथ के अनुसार[१९] वसुबन्धु ने एक मंत्रक आचार्य से मंत्रोपदेश ग्रहण किया था, परन्तु इन्होंने इस आचार्य के नाम का उल्लेख नहीं किया है।

ह्वेनसांग के शिष्य पुकुआंग के अनुसार वसुबन्धु के गुरु का नाम चीनी साहित्य में साईच्याइग टीलो अथवा साईच्याङ्टुलो था।[२०] इनका संस्कृत साहित्य में चाहे जो भी नाम हो परन्तु चीनी साहित्य में यही नाम था। इनसे वसुबन्धु ने काश्मीर में अध्ययन किया था, इन्होंने अभिधर्मावतार नामक संक्षिप्त किन्तु

गम्भीर ग्रन्थ लिखा था, जो ग्रन्थ वास्तव में वैभाषिक व्याख्या है।

युआनच्वाङ्ग ने वसुबन्धु को मनोरथ नामक आचार्य का शिष्य बतलाया है।[२१] एनेकर के अनुसार वसुबन्धु के मन में वैभाषिक तत्वमीमांसा की प्रासंगिकता के बारे में शंकाएँ उठने लगीं तब उन्होंने आचार्य मनोरथ द्वारा सौत्रान्तिक दर्शन के सिद्धान्तों का अध्ययन किया।[२२]

स्टीफन एनेकर ने सूचना दी है कि वसुबन्धु ने महायान के गूढ़ सिद्धान्तों का अध्ययन आर्य असंग से किया था।[२३] लामा तारानाथ ने भी इसी तथ्य का समर्थन किया है।[२४]

सुजुकी के अनुसार वसुबन्धु ने जयत[२५] नामक आचार्य से साधना की शिक्षा प्राप्त की थी।[२६]

५. प्रमुख प्रसंग

परमार्थ-कृत वसुबन्धु की जीवनी में उनके जीवन से सम्बन्धित कुछ प्रसंग विशेषरूप से चर्चित हुए हैं। इनके परवर्ती ग्रन्थकारों लामा तारानाथ[२७], स्टीफन एनेकर[२८], पं० बलदेव उपाध्याय[२९], गोविन्दचन्द्र पाण्डेय[३०] आदि ने अपने-अपने ग्रन्थों में यथावसर संक्षेप अथवा विस्तार से इन प्रसंगों का उल्लेख किया है। अत: यहाँ इन्हें संक्षेप में प्रस्तुत करना अप्रासंगिक न होगा। ये प्रसंग वसुबन्धु के व्यक्तित्व की झलक प्रस्तुत करते हैं।

वसुबन्धु ने एक बार आर्य असंग द्वारा रचित ग्रन्थ "योगाचारभूमि" को पढ़ा एवं उस पर टिप्पणी की। इस टिप्पणी को असंग ने सुना और वसुबन्धु को महायानी बनाने का निश्चय किया। उसने महायान के कुछ ग्रन्थों के साथ अपने दो शिष्यों को वसुबन्धु के पास भेजा, शिष्यों ने शाम को "अक्षयतिनिर्देश" नामक ग्रन्थ का पाठ वसुबन्धु को सुनाया। आलोचना-प्रिय इनका मन इससे बहुत प्रभावित हुआ तथा इन्होंने माना कि महायान के तार्किक सिद्धान्त सुस्थापित हैं। दूसरे दिन शिष्यों ने "दशभूमिसूत्र" नामक ग्रन्थ का पाठ किया जिसका सम्बन्ध बोधिसत्व के मार्ग से है। इससे वसुबन्धु को प्रतीत हुआ कि महायान में आचार का पक्ष भी बड़ा प्रबल है। अत: इनको महायान पर अपने द्वारा लगाये गये पूर्व आक्षेपों से दुःख हुआ। बाद में असंग से भेंट कर ये प्रायश्चित स्वरूप अपनी जिह्वा काटने के लिए तत्पर हो गये। परन्तु आर्य असंग ने इनको समझाया कि जीभ काटना सही प्रायश्चित नहीं है, अपितु उसी जीभ से महायान के सिद्धान्तों का मण्डन करने से प्रायश्चित होगा। असंग से इस प्रकार के उपदेश को ग्रहण

कर वसुबन्धु महायान के प्रचार-प्रसार में तत्पर हो गये।

सौत्रान्तिक मत की अपेक्षा विज्ञानवाद की श्रेष्ठता प्रदर्शित करने वाली इस घटना को सांकेतिक ही माना जा सकता है।

एक अन्य बहुचर्चित घटना वसुबन्धु के शास्त्रार्थ की है। वसुबन्धु शास्त्रार्थ करने में बड़े निपुण थे। एक समय सांख्याचार्य विन्ध्यवास ने अयोध्या के राजा विक्रमादित्य (३७६ ई०) के दरबार में वसुबन्धु के गुरु बुद्धमित्र को शास्त्रार्थ में पराजित कर दिया था। उस समय वसुबन्धु अयोध्या में नहीं थे। बाद में इस घटना को जानकर इनको बहुत दुःख हुआ और विन्ध्यवासी से शास्त्रार्थ करने के उद्देश्य से उसे खोजने के लिए निकल पड़े। इसी बीच विन्ध्यवासी का देहावसान हो गया। अतः निराश वसुबन्धु ने सांख्यमत के खण्डन के लिए ''परमार्थसप्तति'' नामक ग्रन्थ की रचना की।[३१]

किन्तु इन उपर्युक्त घटनाओं की प्रामाणिकता परमार्थकृत जीवनी की प्रामाणिकंता के साथ जुड़ी हुई है। परमार्थकृत वसुबन्धु की जीवनी की प्रामाणिकता सिद्ध होने पर ही उसमें उल्लिखित घटनाओं की सत्यता पर विश्वास किया जा सकता है।

६. यात्राएँ

आचार्य वसुबन्धु यायावर प्रकृति के विद्वान् थे। उनका जीवनकाल एक ही स्थान पर व्यतीत नहीं हुआ। अपनी बाल्यावस्था में विभिन्न शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए वे विविध स्थानों पर घूमते रहे।

लामा तारानाथ और स्टीफन एनेकर ने वसुबन्धु की विभिन्न स्थानों की यात्राओं का वर्णन विस्तार से किया है।

आचार्य वसुबन्धु का जन्म पुरुषपुर (पेशावर, सम्प्रति पाकिस्तान के नगर) में हुआ था। इन्होंने सर्वप्रथम प्रव्रज्या नालंदा[३२] में ग्रहण की। इसके बाद शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए वे काश्मीर गये।[३३] उनका काश्मीर-निवास-काल लगभग ३४२ ई० से ३४६ ई० तक है। इसके बाद वे यहाँ से चल दिये और भ्रमण करते हुए मगध[३४] पहुँचे। एक बार इन्होंने पूर्वगौरी देश का भ्रमण किया था। वहाँ अधिक संख्या में एकत्र नागरिकों को धर्म का उपदेश दिया। अन्त समय में इन्होंने नेपाल की ओर प्रस्थान का निर्णय किया।

स्टीफन एनेकर ने लामा तारानाथ के मत से भिन्न कुछ स्थानों का उल्लेख

किया है। इनके अनुसार वसुबन्धु साकल सियालकोट[३५] में भी कुछ समय तक रहे। इसके बाद वसुबन्धु ने अयोध्या[३६] की ओर प्रस्थान किया तथा यहाँ राजाओं व नागरिकों को उपदेश दिया। तत्पश्चात् पुरुषपुर लौटे और अपने अग्रज आर्य असंग के प्रभाव से शेष जीवन महायानी आचार्य बनकर बिताया।

अपनी वृद्धावस्था में वसुबन्धु ने साकल कोशाम्बी[३७] का भ्रमण किया। लगभग ३९१ ई० में गोविन्दगुप्त युवराज बना। उसने एवं उसकी माता ने वसुबन्धु से अयोध्या में ही निवास करने की प्रार्थना की। वसुबन्धु ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर शेष जीवन वहीं व्यतीत किया।

७. सम्प्रदाय-परिवर्तन

आचार्य वसुबन्धु के सम्प्रदाय के सन्दर्भ में दो महत्त्वपूर्ण मत प्राप्त होते हैं।

परमार्थ के अनुसार[३८] प्रारम्भ में तीनों भाई (असंग, वसुबन्धु और विरिञ्चिवत्स) सर्वास्तिवाद के अनुयायी थे। बाद में अग्रज असंग महायान के अन्तर्गत योगाचार सम्प्रदाय के महान् दार्शनिक आचार्य हुए। वसुबन्धु एक स्वतन्त्र विचारक थे। इनका झुकाव धीरे-धीरे वैभाषिक मत से घटकर सौत्रान्तिक मत की ओर हो गया। जीवन के अन्तिम समय में वसुबन्धु अपने अग्रज असंग के प्रयास से महायानी भी बन गये।[३९] विरिञ्चिवत्स के बारे में किसी उल्लेखनीय योगदान की सूचना प्राप्त नहीं होती है।

युआनच्वाङ्ग के अनुसार वसुबन्धु प्रारम्भ में सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के अनुयायी थे, परन्तु बाद में महायानी बन गये। महायानी बनने के बाद वसुबन्धु ने महायान पर किये गये अपने पूर्व आक्षेपों का स्मरण कर पश्चाताप का अनुभव किया और बाद में विज्ञानवाद के ग्रन्थों की रचना की। इसी तथ्य का समर्थन लामा तारानाथ[४०] और स्टीफन एनेकर[४१] ने भी किया है।

८. मृत्यु

आचार्य वसुबन्धु की मृत्यु अस्सी वर्ष की अवस्था में हुई थी, इस तथ्य को सभी परम्पराएँ एकमत से स्वीकार करती हैं।[४२] परन्तु मृत्यु के स्थान के सन्दर्भ में उनमें मतभेद है। उनकी मृत्यु का प्रसंग तीन स्थानों—अयोध्या, साकल और नेपाल से जोड़ा जाता है। परमार्थ[४३] के अनुसार वसुबन्धु की मृत्यु अयोध्या में हुई थी। इसी को युआन्च्वाँग[४४] ने भी स्वीकार किया है। ह्वेनसांग मानते

हैं कि संघभद्र से शास्त्रार्थ की घटना के समय वसुबन्धु साकल में थे और यहीं उन्होंने "त्रिस्वभावनिर्देश" नामक अन्तिम ग्रन्थ की रचना की। इसके बाद यहीं पर इनकी मृत्यु हुई।[४५]

बुस्टोन के अनुसार जब वसुबन्धु उत्तर में अर्थात् नेपाल में थे, तब वे हन्डु नामक एक भिक्षु से मिलने गये थे। हन्डु अपने कन्धे पर शराब का पात्र रखता था। इस रूप में उसे देखकर वसुबन्धु ने उससे कहा कि अब यह सिद्धान्त नष्ट हो जायेगा। इस प्रकार कहकर वसुबन्धु ने "उष्णी विजय धारणी" मंत्र अथवा स्तोत्र को उल्टा पढ़ा और मर गया[४६]। तारानाथ[४७] ने भी वसुबन्धु की मृत्यु नेपाल में हुई थी—ऐसी सूचना दी है।

यदि वसुबन्धु के मृत्युस्थान को अयोध्या के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र मानते हैं तो पूर्व पृष्ठों में प्रस्तुत किया गया यात्रा का क्रम प्रभावित होगा। अत: पर्याप्त प्रमाणों के अभाव में वसुबन्धु की मृत्यु के स्थान के विषय में अन्तिम निर्णय कर पाना सम्भव नहीं है।

●

सन्दर्भ :

१. यह भारतीय बौद्ध आचार्य बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ चीन गया था। वह ४५६ई० तक चीन में रहा था।

२. Buddhist. p. 51.

३. वही, पृ० ५४.

४. Seven works, p. 7.

५. Study., p. 39.

६. Takakusu, Study, p. 33-53.

७. Watters Thomas, yuang chang, p. 210.

८. Takakusu, Study, p. 33-53.

९. Watters Thomas, yuang chang, p. 210.

१०. पा॰गो॰च॰, बौद्ध इति॰, पृ॰ ४२०।

११. तारानाथ, भारत में बौद्ध इ॰, पृ॰ ६६।

१२. पालिभाषा में उपलब्ध गौतम बुद्ध की एकमात्र जीवनी 'निदान-कथा' है— जो 'जातकठ्ठकथा व्याख्या' की भूमिका है। यद्यपि इसके लेखक का नाम इसमें उल्लिखित नहीं है, फिर भी इसमें कहा गया है कि इसकी रचना की प्रेरणा जिन तीन भिक्षुओं से मिली थी, उनमें महीशासक सम्प्रदाय का बुद्धमित्र भी एक था।

— बापट, पी० वी०, बौद्धमत के २५०० वर्ष, पृ० १३१-१९०।

१३. Takakusu, Study, p. 44.

१४. तिवारी, महेश, विज्ञप्ति., पृ० ३।

१५. वैभाषिक सम्प्रदाय के महत्त्वपूर्ण आचार्य संघभद्र वसुबन्धु के समकालीन माने जाते हैं। इन्होंने वसुबन्धु द्वारा रचित अभिधर्मकोशभाष्य के सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए ग्रन्थों (न्यायानुसारशास्त्र और अभिधर्मसमयदीपिका) का प्रणयन किया। संघभद्र का विरोध अभिधर्मकोशकारिका से नहीं था, बल्कि उसके भाष्य से था। क्योंकि भाष्य में वसुबन्धु ने सौत्रान्तिक दृष्टि से वैभाषिकों की आलोचना की है। संघभद्र ने वसुबन्धु से शास्त्रार्थ करने की इच्छा प्रकट की थी, परन्तु वसुबन्धु ने अपनी वृद्धावस्था के कारण शास्त्रार्थ करने से इन्कार कर दिया।

१६. लालजी, काशीपत्रिका, पृ. ८८।

१७. Anacker, Seven Works, p. 15.

१८. तारानाथ, भारत में बौद्ध इ., पृ. ६६।

१९. Anacker, Seven Works, p. 15-16.

२०. लालजी, काशीपत्रिका, पृ. ८८।

२१. Anacker, Seven Works, p. 14.

२२. वही, पृ. १९।

२३. तारानाथ, भारत में बौद्ध इ., पृ. ६८।

२४. जयत—बौद्ध धर्म दर्शन के इतिहासकारों ने आचार्य जयत के सन्दर्भ में कोई विशेष सूचना नहीं दी है।

२५. Anacker, Seven Works, p. 21.

२६. तारानाथ, भारत में बौद्ध इ., पृ. ६७-६८।

२७. वही, पृ० ६७-६८

२८. Anacker, Seven Works, p. 18-19.

२९. बौद्धमी०, पृ० ५३-५४।

३०. पा०गो०च० बौद्धइति०, पृ० २६४-६५।

३१. द्रष्टव्य—उदयवीर शास्त्री, सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ० ४२६-२७।

३२. नालन्दा नाम के दो स्थानों का उल्लेख प्राप्त होता है। एक मगध का नालंदा तथा इससे भिन्न राजगृह पाटली ग्राम के मध्य एक और नालन्दा। डॉ०लाहा एवं डॉ० मललसेकर ने इसको स्वीकार किया है।

फाह्यान ने पाँचवीं शताब्दी में नालन्दा को नलो कहा है तथा इसको धर्म-सेनापति शारिपुत्र का जन्म स्थान माना है। इससे यह प्रतीत होता है कि इस समय तक नालक ग्राम और नालन्दा दोनों मिला दिए गये थे।

युआन् शुआङ्ग ने भी नालन्दा विहार को राहुल स्तूप से पाँच मील दूर बताया है।

सुमंगल विलासिनी में राजगृह से नालन्दा की दूरी एक योजन बताई गई है। आज भी नालन्दा राजगृह से उत्तर पश्चिम दिशा में लगभग आठ मील की दूरी पर स्थित है।

—उद्धृत, उपा०भ०, बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ० २२६-२८।

३३. जिमर ने उत्तर कुरु को काश्मीर बताया है, परन्तु पालि साहित्य में गान्धार शब्द का प्रयोग अक्सर काश्मीर के साथ मिलाकर किया गया है।

— उद्धृत, वही, पृ० ६९-४५०।

३४. चम्पेय जातक में इस प्रकार का उल्लेख है कि चम्पानदी अंग और मगध के बीच की सीमा पर थी। अंग इसके पूर्व में था और मगध पश्चिम में।

बिम्बसार के समय मगध राज्य का विस्तार तीन सौ योजन था। उसमें दो सौ योजन की वृद्धि अजातशत्रु ने की। इस प्रकार मगध की सीमा काफी विस्तृत हो गई।　—वही, पृ० १३४-७४।

३५. राजा मिलिन्द की राजधानी सागल थी, जिसे साकल भी कहा जाता था। आधुनिक समय में यह सम्भवतया सियालकोट ही था। तक्षशिला से मथुरा आने वाले प्रसिद्ध व्यापारिक मार्ग पर सागर पड़ता है। तक्षशिला से सीधा एक मार्ग (सागल) सियालकोट होता हुआ श्रावस्ती तक जाता था।

—वही, पृ० ३६८-४७३।

३६. फेण सूत्र में गंगा नदी के किनारे अयोध्या नगरी का उल्लेख किया गया है। पालि त्रिपिटक में साकेत को अयोध्या से पृथक् माना गया है। बुद्धकाल में साकेत और अयोध्या दो अलग-अलग स्थान थे। साकेत एक महानगर

था तथा अयोध्या एक छोटा-सा गाँव मात्र।

पालि में सरयू नदी का उल्लेख किया गया है, लेकिन पालि की अयोध्या गंगा नदी के किनारे पर थी। परन्तु आधुनिक अयोध्या गंगा नदी के किनारे पर स्थित नहीं है।

फाह्यान ने साकेत को कन्नौज से तेरह योजन दक्षिणपूर्व में बताया है। अत: आधुनिक अयोध्या को ही बुद्धकालीन साकेत माना जा सकता है।

— उपा०, भ० बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ० १२८-१३२-२५०।

३७. भगवान् बुद्ध ने अपनी यात्रा के समय (कोसाम्बियं घोषितारामे) धर्मोपदेश कोशाम्बि के घोषिताराम में किया।

आधुनिक कोसम गाँव को बुद्धकालीन कोशाम्बि के साथ जोड़ा गया है। ''अंगुत्तर निकाय'' की अट्ठकथा में कहा गया है कि कोशाम्बि यमुना नदी के तट पर है। —वही, पृ० ८-१२८।

३८. Takakusu, Study, p. 33-53.

३९. Watters, Thomas, yuang-chwang, p. 210.

४०. तारानाथ, भारत में बौद्ध इ०, पृ० ६७।

४१. Anacker, Seven Works, p. 18-19.

४२. दो वसुबन्धुओं को मानने वाले फ्राउवाल्नर की काल-गणनानुसार प्रथम वसुबन्धु की आयु ६० वर्ष थी।

४३. Takakusu, Study, p. 45.

४४. Watters Thomas, yuang chwang, p. 359.

४५. Anacker. Seven works, p. 23.

४६. वही, पृ० ३३।

४७. तारानाथ, भारत में बौद्ध इ०, पृ० ७०।

द्वितीय अध्याय

वसुबन्धु का काल

विवाद

भारतीय दर्शन के ऐसे अनेक मूर्धन्य आचार्य हैं जिनके जीवन एवं काल के विषय में कोई प्रामाणिक विवरण प्राप्त नहीं होता है। बौद्ध-दार्शनिक वसुबन्धु भी उन्हीं में से एक हैं जिनके जीवन एवं काल के विषय में इतिहासकार किसी निर्विवाद निष्कर्ष पर अद्यावधि नहीं पहुँच पाए हैं।

वसुबन्धु ने अपने जीवन-परिचय के प्रसंग में, जैसा कि पूर्वपृष्ठों में उल्लेख किया गया है, अपने विविध ग्रन्थों में स्पष्टरूप से कोई सूचना नहीं दी है। अत: उनके ग्रन्थों से उनके काल का निर्णय करने में प्रत्यक्षरूप से कोई सहायता नहीं मिलती है। फलस्वरूप इस विषय में बाह्य प्रमाणों पर निर्भर रहने की बाध्यता है। बाह्य प्रमाणों का अध्ययन और विश्लेषण भी सहज ही एक निष्कर्ष पर पहुँचने नहीं देता। वसुबन्धु के काल का यह विवाद कुछ और जटिल तब हो जाता है जब हम दो वसुबन्धुओं के विवाद से साक्षात्कार करते हैं।

२. विविध मत

वसुबन्धु के काल पर विचार करने वाले आचार्यों की मान्यता को कालक्रम से निम्न प्रकार से देखा जा सकता है —

वसुबन्धु का काल	प्रस्तावक इतिहासकार
३१६-३९६ ई०	एनेकर
३२०-३८० ई० (प्रथम वसुबन्धु)	फ्राऊवाल्नर
४०० ई०	दासगुप्ता
३९०-४७० ई०	वोगिहारा
४००-४८० ई० (द्वितीय वसुबन्धु)	फ्राऊवाल्नर
४२०-५०० ई०	ताकाकुसु
४२०-५०० ई०	टी० किमुरा

५०० - ५५० ई०	सिल्वालेवी
६०० ई०	मैक्समूलर

इस प्रकार इतिहासकार वसुबन्धु को चौथी सदी (३१६) से छठी शताब्दी (६००) के अन्तराल में मानते हैं। ये लगभग तीन सौ वर्ष ही वसुबन्धु के काल की पूर्वापर सीमा है। शताब्दी की दृष्टि से देखने पर कहा जा सकता है कि—चतुर्थ शताब्दी के समर्थक इतिहासकारों में प्रमुख हैं—एनेकर, फ्राऊवाल्नर, दासगुप्ता आदि तथा पंचम शताब्दी के समर्थक इतिहासकारों में मुख्य हैं-वोगिहारा, फ्राऊवाल्नर, ताकाकुसु, टी० किमुरा, सिल्वालेवी, मैक्समूलर आदि।

३. प्रथम आधार : बुद्ध का परिनिर्वाण

वसुबन्धु के काल के निर्धारण में इतिहासकारों ने कई स्रोतों से सहायता ली है। कुछ ने परमार्थ और युआन्च्वाँग द्वारा उद्धृत संकेतों को आधार बनाया है तो कुछ ने अन्य ग्रन्थों व सूचनाओं की सहायता ली है।

(अ) परमार्थ और युवान्च्वाँग के संकेत

परमार्थ और युवान्च्वाँग का संकेत तीन रूपों में मिलता है— प्रथम, मध्यान्तविभागभाष्य में परमार्थ द्वारा उद्धृत परिनिर्वाण के ९०० वर्ष बाद का संकेत। द्वितीय संकेत भी परमार्थ द्वारा ही दिया गया है। परमार्थ ने वसुबन्धु की जीवनी में वसुबन्धु का काल भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण से ११०० वर्ष बाद बतलाया है। तृतीय, प्रसिद्ध चीनी यात्री विद्वान् युआन्च्वाँग द्वारा प्रस्तुत संकेत, जिसमें वसुबन्धु का काल परिनिर्वाण के १००० वर्ष बाद बतलाया गया है।

उपर्युक्त तीनों संकेत बुद्ध की निर्वाण-तिथि पर आधारित हैं। इसलिए वसुबन्धु के काल-निर्धारण से पूर्व बुद्ध के परिनिर्वाण की तिथि-सम्बन्धी विचारों पर एक दृष्टि डालना आवश्यक है।

यहाँ यह उल्लेख परमावश्यक है कि वसुबन्धु के काल पर विचार करने वाले इतिहासकारों में ताकाकुसु ही एकमात्र ऐसे इतिहासकार हैं, जिन्होंने प्रथम संकेत को सर्वाधिक महत्त्व दिया है।

(ब) परिनिर्वाण के विविध मत

बुद्ध की निर्वाण-तिथि के सन्दर्भ में इतिहासकारों में विवाद है। विभिन्न इतिहासकारों ने विभिन्न प्रकार से इनकी निर्वाण-तिथि का उल्लेख किया है।

राहुल सांकृत्यान के अनुसार[१] सिद्धार्थ ने उनतीस साल की उम्र (५३४ ई० पू०) में घर छोड़ दिया तथा ६ वर्ष तक तपस्या कर ५२८ ई० पू० में ज्ञान प्राप्त किया और ४५ वर्ष तक अपने धर्म-दर्शन का उपदेश कर ८० वर्ष की आयु अर्थात् ४८३ ई० पू० में निर्वाण प्राप्त किया।

पं० बलदेव उपाध्याय के अनुसार वि० पू० ४२६ अर्थात् ३६९ ई० पू० में वैशाखी पूर्णिमा को ८० वर्ष की उम्र में बुद्ध निर्वाण को प्राप्त हुए।[२]

गोविन्दचन्द्र पाण्डेय के अनुसार बुद्ध का जन्म ई० पू० ५६३ में हुआ था एवं अस्सी वर्ष के बाद उनकी मृत्यु हुई।[३] इस प्रकार इन दोनों तिथियों की गणना करने पर इनके अनुसार बुद्ध की निर्वाण तिथि ४८३ ई० पू० है।

परमार्थकृत वसुबन्धु की जीवनी में प्रसंगवश बुद्ध के निर्वाण की तिथि का उल्लेख किया गया था—ऐसी ताकाकुसु की मान्यता है। किन्तु यह जीवनी अनुपलब्ध है। अतः इसके उल्लेख पर विस्तार से विचार सम्भव नहीं है। फिर भी ताकाकुसु का विश्वास है कि परमार्थ ने अपने समय में प्रचलित किसी परम्परा के आधार पर यह तिथि सूचित की थी।[४]

भारतीय बौद्ध भिक्षुओं में बिन्दुचिन्हित अभिलेख की एक परम्परा प्रचलित थी। इसमें भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण से ४८९ तक ९७५ बिन्दु अंकित थे। इसमें प्रतिवर्ष वर्षावास के बाद एक बिन्दु जोड़ दिया जाता था। ऐसा माना जाता है कि संघभद्र इस परम्परा को चीन ले गये थे। बुद्धघोषकृत **समन्तपासादिका** का सन् ४८९ में संघभद्र ने चीनी अनुवाद किया था तथा उसी वर्ष वर्षावास के बाद संघभद्र की मृत्यु हो गई थी। अतः संघभद्र ने ४८९ ई० में अन्तिम बिन्दु अर्थात् ९७५वाँ बिन्दु लगाया था। ९७५ में से ४८९ घटाने पर ४८६ ई० पू० बुद्ध की परिनिर्वाण-तिथि प्राप्त होती है। ताकाकुसु के अनुसार यही ई० पू० ४८६ बुद्ध के परिनिर्वाण की तिथि है।[५]

(स) विवेचन

उपर्युक्त विवरण से बुद्ध के निर्वाण की तीन महत्त्वपूर्ण तिथियाँ ईसा पूर्व ४२६, ४८३ एवं ४८६ प्राप्त होती हैं। सुकोमल चौधरी ने २६७ से ४५९ के मध्य बुद्ध के परिनिर्वाण का जो मत प्रस्तुत किया है[६], वह प्रामाणिक नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसमें १९२ वर्षों का लम्बा अन्तराल विद्यमान है जिसकी ८० वर्षीय बुद्ध की मृत्यु से भी कोई संगति स्थापित होना कठिन है।

परमार्थ ने अभिधर्मकोशभाष्य में एक सूचना यह भी दी थी कि वर्तमान समय से १२५६ वर्ष पूर्व भगवान् बुद्ध परिनिवृत्त हुए थे।[७] युआन्च्वाँग के शिष्य फु-कुआँग तथा एन०पेरी ने इस सूचना के प्रति आदर प्रकट किया है, किन्तु फ्राऊवाल्नर इस सूचना को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। फिर भी यदि इस आधार को गम्भीर विचार का विषय बनाकर आगे बढ़ाया जाता है तो बुद्ध के परिनिर्वाण की तिथि ७०२ निश्चित होती है, क्योंकि परमार्थ ने अभिधर्मकोश-भाष्य का चीनी अनुवाद सम्भवत: ५६३ ई० से ५६९ ई० के मध्य किया था।[८] इस काल से १२६५ वर्ष पूर्व बुद्ध का परिनिर्वाण ७०२ निश्चित होता है।

बुद्ध के परिनिर्वाण की उपर्युक्त चार तिथियों (ईसा पूर्व ४२६, ४८३, ४८६ और ७०२) को आधार बनाकर वसुबन्धु के काल का निर्णय करने का प्रयास किया जा सकता है, किन्तु यहाँ भी तीन मत प्राप्त होते हैं—

-९०० वर्ष बाद का काल
-१००० वर्ष बाद का काल
-११०० वर्ष बाद का काल

इन विभिन्न मतों की पृष्ठिभूमि में, गणनानुसार वसुबन्धु का काल क्रमश: ४७४, ४१७ और ४१४ निश्चित होता है। परिनिर्वाण के ९०० वर्ष बाद मानने पर ४७४, ४१७ और ४१४ तथा १००० वर्ष बाद मानने पर ५७४, ५१७ और ५१४ एवं ११०० वर्ष बाद मानने पर ६७४, ६१७ और ६१४ ई० प्राप्त होता है।

९०० वर्ष से ११०० वर्ष के मध्य २०० वर्ष के अन्तराल का मध्य बिन्दु १००० वर्ष माना जाए तो परिनिर्वाण के लगभग १००० वर्ष बाद वसुबन्धु के प्रादुर्भाव का मत संगत प्रतीत होता है तथा एतद्नुसार परिनिर्वाण के प्रथम आधार (परमार्थकृत जीवनी) को प्रामाणिक मानने पर वसुबन्धु का काल छठी शताब्दी का मध्य (५५० ई०) माना जा सकता है।

४. द्वितीय आधार : विक्रमादित्य व बालादित्य

वसुबन्धु के काल-निर्धारण में दूसरा प्रमुख आधार विक्रमादित्य व बालादित्य से उसकी समकालीनता का है। ताकाकुसु की मान्यता है कि परमार्थकृत जीवनी में उल्लेख है कि वसुबन्धु राजा विक्रमादित्य के शासनकाल में विद्यमान थे।[९]

रामशंकर त्रिपाठी विक्रमादित्य और बालादित्य को वसुबन्धु के समकालीन मानते हुए अपने मत के समर्थन में एक श्लोक उद्धृत करते हैं।—

सोऽयं सम्प्रति चन्द्रगुप्ततनयश्चन्द्रप्रकाशो युवा।
जातो भूपतिराश्रयः कृतधियां दृष्ट्या कृतार्थश्रमः।।

— (सौत्रान्तिकदर्शनम्, पृ० ८३-८४)

इतिहासकार एवं कुछ अन्य स्वतन्त्र लेखक बालादित्य को वसुबन्धु से शिक्षा ग्रहण करने की बात कहते हैं। किसी राजा ने अपने पुत्र बालादित्य को वसुबन्धु से शिक्षा ग्रहण करने के लिए भेजा था, ऐसी मान्यता है।

राजा विक्रमादित्य और बालादित्य की ऐतिहासिकता पर विचार के क्रम में कतिपय इतिहास-ग्रन्थों का अध्ययन करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि विक्रमादित्य नाम के राजा प्राचीन भारत के इतिहास में एक से अधिक हो चुके हैं। कहीं यह राजा का नाम रहा है, तो कहीं उपाधि। यहाँ वसुबन्धु के समकालीन जिस राजा विक्रमादित्य की ओर सकेत है, उससे इतिहास के तीन राजाओं को समझा गया है—

एक मगध नरेश[१०] चन्द्रगुप्त द्वितीय (३७५-४१४) दूसरा उसका कनिष्ठ पुत्र स्कन्धगुप्त (४५५-४६७) जो कि कुमार गुप्त का छोटा भाई था तथा तृतीय पुरुगुप्त का पुत्र बालादित्य (४७३-४७६ ई०)।

(अ) बालादित्य की ऐतिहासिकता

जहाँ तक बालादित्य का प्रश्न है, इसकी स्वतन्त्र राजा के रूप में ऐतिहासिकता संदिग्ध है। केवल कुछ इतिहासकार इसे युवराज की उपाधि के रूप में स्वीकार करते हैं। यदि राजा विक्रमादित्य से तात्पर्य प्रसंगानुसार चन्द्रगुप्त द्वितीय समझा जाता है तो इस पर स्टीफन एनेकर[११] का कहना है कि इतिहास में उसके किसी ऐसे पुत्र का उल्लेख नहीं मिलता जिसे बालादित्य की उपाधि दी गई हो। ले मान दैट की मान्यतानुसार चन्द्रगुप्त का पुत्र कुमारगुप्त प्रथम ही राज्याभिषेक से पहले बालादित्य की उपाधि से विभूषित था।[१२] लेकिन राज्याभिषेक के बाद उसके प्रताप एवं पराक्रम के कारण उसे महेन्द्रादित्य तथा शक्रादित्य की उपाधि से विभूषित किया गया।[१३]

(ब) गोविन्दगुप्त

एनेकर ने चन्द्रगुप्त द्वितीय के सबसे बड़े पुत्र गोविन्द गुप्त (लगभग ३८३

ई०) को बालादित्य की उपाधि से सम्बद्ध किया है। एतद्नुसार गोविन्दगुप्त के आठवें जन्मदिन पर चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उसे वसुबन्धु के गुरुत्व में सौंप दिया था। चन्द्रगुप्त द्वितीय की पत्नी तथा गोविन्दगुप्त की माता ध्रुवदेवी ने भी वसुबन्धु से बौद्ध धर्म का उपदेश ग्रहण किया था। अत: एनेकर के मत में वसुबन्धु के काल के इस उक्त स्रोत (विक्रमादित्य और बालादित्य की समकालीनता) के आधार पर वसुबन्धु का काल ३१६ से ३९६ ई० निश्चित होता है।[१४]

(स) एनेकर के मत का विवेचन

एनेकर की यह मान्यता असंगत और दुर्बल प्रतीत होती है क्योंकि एक ओर उसने स्वयं चन्द्रगुप्त द्वितीय के किसी पुत्र को बालादित्य की उपाधि से विभूषित नहीं माना तथा दूसरी ओर उसी के ज्येष्ठ पुत्र गोविन्दगुप्त को बालादित्य मानकर उसके काल से सामंजस्य रखते हुए वसुबन्धु का काल निर्धारित किया। किन्तु यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि एनेकर अपने मत की इस असंगति और दुर्बलता से सुपरिचित था। इसीलिए उसने यह निष्कर्ष निकालने के बाद अन्त में कहा है कि अन्य प्रमाणों के उपलब्ध होने तक, वर्तमान उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर, वसुबन्धु के काल की साधारण मान्यता यह हो सकती है। एनेकर ने कहा है कि यद्यपि यह मान्यता किसी बड़े प्रमाणों पर आधारित नहीं है, फिर भी इसे एक मान्यता कहा जा सकता है।[१५] किन्तु वसुबन्धु या किसी भी आचार्य के कालनिर्धारण में ऐसे अनुमानों का विशेष महत्त्व नहीं माना जा सकता।

(द) ताकाकुसु का मत

वसुबन्धु की विक्रमादित्य और बालादित्य की समकालीनता को स्वयं ताकाकुसु ने अपनी ओर से अयोध्या-नरेश विक्रमादित्य तथा उसके पुत्र बालादित्य से सम्बद्ध माना है अर्थात् ताकाकुसु बालादित्य को मगध-नरेश स्कन्धगुप्त का पुत्र मानते हैं। स्कन्धगुप्त मगध देश का राजा था, यह निर्विवाद है।[१६]

(य) नरसिंहगुप्त

कुछ इतिहासकार विक्रमादित्य और बालादित्य का सम्बन्ध पुरुगुप्त और नरसिंहगुप्त के साथ भी करते हैं। इतिहास-ग्रन्थों में नरसिंहगुप्त को ही स्पष्ट-रूप से बालादित्य की उपाधि से विभूषित कहा गया है। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, बालादित्य नाम नहीं अपितु एक उपाधि रहा है। इसलिए इसकी ऐतिहासिकता सन्देह के घेरे में है। किन्तु यदि नरसिंहगुप्त को ही वसुबन्धु का

समकालीन माना जाता है तो यह प्रश्न विचारणीय है कि पुरुगुप्त की पत्नी तथा नरसिंहगुप्त की माता कौन थी? यदि वह ध्रुवदेवी ही थी तो बालादित्य के समकालीन वसुबन्धु के होने का तथ्य सुसंगत सिद्ध हो सकता है, किन्तु यदि वह ध्रुवदेवी न होकर कोई अन्य थी तो पूर्वोक्त तथ्य में दूसरी असंगति उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि ध्रुवदेवी का उल्लेख नरसिंहगुप्त की माता के रूप में नहीं मिलता है। ध्रुवदेवी रामगुप्त की पत्नी थी तथा रामगुप्त और नरसिंह गुप्त में १०० से भी अधिक वर्षों का कालभेद है। अत: रामगुप्त और नरसिंहगुप्त दोनों के काल में ध्रुवदेवी को मानना कष्ट-कल्पना है।

जो इतिहासकार बालादित्य उपाधि से विभूषित युवराज को पुरुगुप्त के पुत्र नरसिंहगुप्त से सम्बद्ध करते हैं, उनमें सत्यकेतु विद्यालंकार[१७] और हार्नल महोदय[१८] उल्लेखनीय हैं। विद्यालंकार यह भी सूचित करते हैं कि नरसिंहगुप्त के द्वारा संचालित सिक्कों पर एक ओर उसका चित्र और नर लिखा गया था तथा दूसरी ओर बालादित्य शब्द अंकित था।

(२) विवेचन एवं निष्कर्ष

वसुबन्धु के काल-निर्धारण के इस द्वितीय स्रोत से अधोलिखित बिन्दु स्पष्ट होते हैं—

वसुबन्धु बालादित्य के समकालीन थे, किन्तु पूर्व विवेचनानुसार बालादित्य को तीन राजाओं के नाम से सम्बद्ध किया जाता है—

१. चन्द्रगुप्त द्वितीय का पुत्र 'बालादित्य' उपाधिधारी गोविन्दगुप्त।
२. स्कन्धगुप्त का पुत्र बालादित्य।
३. पुरुगुप्त का पुत्र 'बालादित्य' उपाधिधारी नरसिंहगुप्त।

यद्यपि ये तीनों राजा मगध-नरेश थे, किन्तु तीनों के काल में बड़ा अन्तर है। तीनों का शासनकाल क्रमश: इस प्रकार है—

— ३८३ ई० एनेकर के अनुसार।

— ४६७ ई० से इतिहास-ग्रन्थों के अनुसार किन्तु ताकाकुसु के अनुसार ४८१-४९० ई०।

— ४७३ ई० से ४७६ ई० इतिहास-ग्रन्थों के अनुसार।

जहाँ तक गोविन्दगुप्त का प्रश्न है, इतिहास के ग्रन्थों में इस नाम से किसी राजा का उल्लेख नहीं मिलता है। इसलिए प्रथम मत इतिहास से

पुष्ट न होने के कारण स्वत: ही अस्वीकार्य सिद्ध होता है। दूसरे मत के प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि जिस बालादित्य का ताकाकुसु ने नाम के रूप में उल्लेख किया है वह इतिहास-ग्रन्थों के अनुसार नाम न होकर उपाधि मात्र है।

ताकाकुसु के मत के इस साधारण दोष के बावजूद उनके मत का समर्थनीय पक्ष यह है कि ताकाकुसु जिस बालादित्य की बात करते हैं, वह इतिहास-सम्मत व्यक्ति है तथा उसके पिता 'स्कन्धगुप्त' की उपाधि भी विक्रमादित्य है। अत: वसुबन्धु का विक्रमादित्य-बालादित्य का समकालीन होना सर्वथा असंगत तथ्य नहीं कहा जा सकता है। एतदनुसार वसुबन्धु का काल पाँचवीं शती के मध्य से अन्त तक सिद्ध होता है। पुरुगुप्त और तत्पुत्र नरसिंहगुप्त इन दोनों राजाओं का शासनकाल ४६७ ई० से ४७६ ई० बताया गया है।

द्वितीय और तृतीय मतों में काल का सामंजस्य कठिन नहीं है, क्योंकि द्वितीय मत द्वारा प्रस्तुत कालावधि ४५५ से ४८१ ई० में ही तृतीय मत द्वारा प्रस्तावित कालावधि ४६७ ई० से ४७६ ई० अन्तर्भूत है। अत: ८० वर्ष तक सक्रिय जीवन जीने वाले वसुबन्धु का काल इस द्वितीय स्रोत के आधार पर पंचम शताब्दी माना जा सकता है।

५. तृतीय आधार : वसुबन्धु, विन्ध्यवास और कालिदास

वसुबन्धु बौद्ध आचार्य हैं, विन्ध्यवास सांख्य दार्शनिक के रूप में चर्चित हैं और कालिदास संस्कृत साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। तीनों में परस्पर सामंजस्य साधारणतया नहीं दिखाई देता है किन्तु कुछ संकेत ऐसे मिलते हैं जिनके कारण वसुबन्धु के काल पर विचार के प्रसंग में इनका उल्लेख आवश्यक हो जाता है।

(अ) बुद्धमित्र और वर्षगण्य में शास्त्रार्थ

ताकाकुसु ने एक स्थान पर सूचना दी है कि अयोध्या-नरेश विक्रमादित्य के दरबार में विन्ध्यवास के गुरु वर्षगण्य एवं वसुबन्धु के गुरु बुद्धमित्र में शास्त्रार्थ हुआ था।[१९] ताकाकुसु ने वर्षगण्य का काल ४२० ई० से ५२० ई० तक माना है।[२०] बुद्धमित्र वसुबन्धु के गुरु थे, यह सूचना अन्य स्रोतों से भी पुष्ट होती है।[२१] किन्तु उनके काल और वर्षगण्य से शास्त्रार्थ की घटना में पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं।

(ब) विन्ध्यवास, ईश्वरकृष्ण और वसुबन्धु

विन्ध्यवास को कुछ इतिहासकार विन्ध्यवासी भी कहते हैं। ये वर्षगण्य के शिष्य थे, इसकी पुष्टि उदयवीर शास्त्री भी करते हैं।[२२] विन्ध्यवास अथवा विन्ध्यवासी के साथ कुछ इतिहासकार ईश्वरकृष्ण को भी समीकृत करते हैं, क्योंकि दोनों ही सांख्याचार्य के रूप में उल्लिखित हैं। किन्तु दुर्भाग्यवश दोनों के प्रामाणिक जीवन-परिचय उपलब्ध नहीं होते हैं। स्वयं ताकाकुसु के मत में विन्ध्यवास और ईश्वरकृष्ण एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं। ईश्वरकृष्ण नाम है तथा विन्ध्यवास उपाधि।[२३] किन्तु प्रो० गार्वे के मत में ईश्वरकृष्ण का काल ३६९ ई० है, जबकि ताकाकुसु के अनुसार ४५० ई० है।[२४]

हिरण्यसप्तति के लेखक सांख्याचार्य विन्ध्यवास को उदयवीर शास्त्री[२५] वसुबन्धु का समकालीन तो मानते हैं, किन्तु दोनों के काल का प्रामाणिक उल्लेख नहीं करते हैं। वे वसुबन्धु को चतुर्थ शताब्दी में बताकर इसी के आधार पर विन्ध्यवास का काल निर्धारित करते हैं। किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में वसुबन्धु का काल ही जब अनिर्धारित है तो उसके काल के आधार पर विन्ध्यवास का काल निर्धारित करने का प्रयास प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। जहाँ तक विन्ध्यवास और ईश्वरकृष्ण का प्रश्न है, शास्त्री दोनों को भिन्न मानते हैं।

कुछ विद्वान् ईश्वरकृष्ण को विन्ध्यवास से न केवल भिन्न अपितु पूर्ववर्ती भी मानते हैं। इनके मत में विन्ध्यवास से पूर्ववर्ती ईश्वरकृष्ण का काल ईसा की प्रथम शताब्दी से पूर्व है।

विन्ध्यवास वसुबन्धु के समकालीन थे या नहीं यह प्रश्न तो विचाराधीन है ही, किन्तु विन्ध्यवास और ईश्वरकृष्ण की अभिन्नता के मत ने इसे जटिलतर बना दिया है। इसके अतिरिक्त कुछ इतिहासकार ईश्वरकृष्ण और कालिदास को भी अभिन्न मानते हैं, जिसके कारण यह (वसुबन्धु एवं विन्ध्यवास की समकालीनता का) प्रश्न जटिलतम बन गया है। ईश्वरकृष्ण और कालिदास को अभिन्न मानने वालों में त्र्यम्बक गोविन्द माईणकर का नाम यहाँ उल्लेखनीय है,[२६] जो ईश्वरकृष्ण को व्यक्ति का घरेलू नाम तथा कालिदास को उपाधि मानते हैं। तब इस विषय में अधिक न कहकर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि तीन कालिदास की मान्यता और उनके देशकाल के विषय में प्रचलित विवाद की पृष्ठभूमि में या तो सब कुछ सम्भव है, अथवा कुछ भी नहीं।

(स) वसुबन्धु और कालिदास

वसुबन्धु और कालिदास पर एक बिन्दु के अन्तर्गत विचार करना तथा उनमें परस्पर सम्बन्ध का अनुसंधान करना अपने आप में रोचक और महत्त्वपूर्ण विषय है। वसुबन्धु बौद्ध दार्शनिक होने के कारण बौद्धमतावलम्बी थे जबकि कालिदास मूलत: कवि थे। वह शैवधर्म की मान्यताओं में विशेष आस्था रखते हुए भी वैदिक संस्कृति के पौषक थे। कालिदास ने अपनी रचनाओं में प्रत्यक्षत: किसी बौद्ध सन्दर्भ को प्रस्तुत नहीं किया है। इसलिए न केवल वसुबन्धु अपितु समस्त बौद्ध मत से उनका सम्बन्ध स्वतन्त्र अनुसंधान का विषय है।[२७]

वसुबन्धु और कालिदास में साक्षात् सम्बन्ध रहा है या नहीं यह प्रमाणों के अभाव में नहीं कहा जा सकता। दोनों ही विभूतियों का प्रामाणिक जीवन-परिचय उपलब्ध नहीं है। दोनों ने अपनी रचनाओं में आत्म-परिचय विषयक संकेत नहीं दिये हैं। दोनों के ग्रन्थ अनेक और विविध हैं। इसलिए दोनों के विषय में यह मान्यता भी प्रचलित है कि इस नाम के आचार्य या लेखक एक से अधिक हो चुके हैं।

वसुबन्धु और कालिदास दोनों के काल पर स्वतन्त्ररूप से विचार करने वाले कुछ इतिहासकार इन्हें चन्द्रगुप्त द्वितीय का समकालीन बताते हैं और चन्द्रगुप्त द्वितीय के पुत्र गोविन्दगुप्त तथा स्कन्धगुप्त अथवा दोनों ही विभूतियों के काल पर विचार करने वाले इतिहासकार इनके काल-निर्धारण में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को अनेक में से एक आधार मानते हैं। इतिहास में चन्द्रगुप्त और विक्रमादित्य के नाम और उपाधि को धारण करने वाले एकाधिक राजा हो चुके हैं। इसलिए चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के नाम का आधार यद्यपि बहुत सशक्त नहीं है, फिर भी जो इतिहासकार कालिदास को चन्द्रगुप्त द्वितीय (३७५-४१४) का समकालीन मानते हैं, उनके मत की पृष्ठभूमि में विचार करने पर वसुबन्धु को भी इसी राजा का समकालीन होना चाहिए।

वसुबन्धु और कालिदास के काल की पूर्वापर सीमाएँ

वसुबन्धु के काल की पूर्वापर सीमा, जैसाकि पूर्वपृष्ठों में उल्लेख किया जा चुका है, चौथी शताब्दी के प्रारम्भ (३१६) से छठीं शताब्दी तक है। यह लगभग ३०० वर्षों की कालावधि है अर्थात् वसुबन्धु के काल का विवाद ३०० वर्षों तक सीमित है। दूसरी ओर कालिदास के काल का विवाद ईसापूर्व ८वीं शताब्दी से लेकर ईसा पश्चात् १२वीं शताब्दी तक अर्थात् दो हजार वर्षों का

था, जिसे १०० से भी अधिक वर्षों के अनुसंधान और विचार के बाद केवल कुछ सौ वर्षों तक सीमित किया जा सका है। सम्प्रति यह विवाद ईसा पूर्व ५७ तथा ईसा पश्चात् ३०० से ५०० तक अर्थात् गुप्तकाल तक लगभग २५० त्रर्षों में संकुचित हो गया है।[२८]

यह स्वाभाविक ही है कि जो इतिहासकार कालिदास को गुप्तकाल में मानते हैं, उनके तर्कों से वसुबन्धु के कालविषयक तर्कों का कुछ सामंजस्य हो। किन्तु गम्भीर प्रमाणों के अभाव में यह सामंजस्य प्रामाणिकरूप से स्थापित करना सम्भव नहीं है। दोनों के काल को निर्धारित करने वाले इतिहासकार विक्रमादित्य के समान आधार को तो मानते हैं, किन्तु इतिहास में एक से अधिक विक्रमादित्य का उल्लेख होने के कारण किसी विशेष विक्रमादित्य से इन दोनों का सम्बन्ध स्थापित करने में कुछ विवाद शेष रह ही जाते हैं। विक्रमादित्य अनेक, कालिदास अनेक और वसुबन्धु भी अनेक। अत: इस प्रकार के कुछ प्रचलित मत और उनके समर्थन में दिये गए तर्क इन दोनों विभूतियों के काल के प्रश्न को नि:सन्देह सुलझाने वाले कम और उलझाने वाले अधिक हैं।

मेघदूत में दिङ्नाग का उल्लेख

मेघदूत में उल्लिखित दिङ्नाग[२९] वस्तुत: कौन था, कालिदास ने उसमें किस व्यक्ति की ओर संकेत किया है, यह विवादास्पद है। मल्लिनाथ इस दिङ्नाग को वसुबन्धु का शिष्य तथा प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक मानते हैं[३०], किन्तु के० एस० रामास्वामी शास्त्री[३१] इससे सहमत नहीं है। डॉ० पी० राघवन् का प्रमाण देते हुए डॉ० पाठक[३२] ने दिङ्नाग को ऐसे नाटककारों की सूची में रखा है, जिसने कुन्दमाला तथा रामकथा पर आधारित अनेक नाटक लिखे थे।

अत: इस विवरण से यही संकेत मिलता है कि मेघदूत में उल्लिखित दिङ्नाग वसुबन्धु का शिष्य नहीं था। पूर्व विद्वानों का ऐसा निष्कर्ष इसलिए भी समर्थन योग्य है कि कालिदास जैसे श्रेष्ठ कवि का सर्वथा भिन्न क्षेत्र (बौद्ध दर्शन) के आचार्य से प्रतिद्वन्द्विता रखने का औचित्य नहीं है। यदि कल्पना के लिए ऐसा मान लें तो भी कालिदास के साहित्य में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से बौद्धमत का उल्लेख अवश्य ही मिलना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं है। इसके अलावा ऐसा मानने पर कालिदास को अश्वघोष से भी पूर्ववर्ती (प्रथम शताब्दी में) सिद्ध करने वाले अनेक प्रमाण पूरी तरह बाधित हो जायेंगे।

६. दो वसुबन्धु का विवाद

विवाद का आधार

(अ) तीन निर्वाण तिथियाँ

वसुबन्धु के काल के विषय में प्राप्त विभिन्न सूचनाएँ एवं प्रमाण दो वसुबन्धुओं की धारणा को जन्म देते हैं। इसके तीन कारण हैं—

प्रथम कारण—चीनी भाषा में लिखित वसुबन्धु की जीवनियाँ जिनमें वसुबन्धु के काल से सम्बन्धित तीन तिथियाँ निर्वाणोपरान्त ९०० वर्ष बाद, १००० वर्ष बाद एवं ११०० वर्ष बाद की प्राप्त होती हैं।

द्वितीय कारण—अभिधर्मकोश भाष्य पर यशोमित्र द्वारा लिखित 'स्फुटार्था' नामक व्याख्या जिसमें दो वसुबन्धु के सन्दर्भ में कुछ सूचनाएँ प्राप्त होती हैं।

तृतीय कारण—वसुबन्धु की रचनाओं के सन्दर्भ में प्राप्त सूचनाएँ जिनको देखने से प्रतीत होता है कि एक भ्रमणशील व्यक्ति के लिए इतने अधिक ग्रन्थों का प्रणयन करना सम्भव नहीं है।

इस विवाद को सर्वप्रथम उठाने वाला इतिहासकार फ्राउवाल्नर है जिसने तर्क एवं प्रमाणों के द्वारा दो वसुबन्धुओं की सत्ता को सिद्ध करने की कोशिश की है[३३]। इससे विपरीत पी० एस० जैनी[३४] एवं अकीरा हीराकावा[३५] ने भी इस विषय पर प्रकाश डाला है।

(ब) फ्राऊवाल्नर का मत

एक अन्य तिथि जो परमार्थ द्वारा ही **मध्यान्तविभागभाष्य** का चीनी अनुवाद करते समय परिनिर्वाण के ९०० वर्ष की उद्धृत की गई है, इस तिथि को फ्राउवाल्नर ने असंग के अनुज वसुबन्धु के साथ जोड़ा है। इसके लिए इन्होंने कई साक्ष्य प्रस्तुत किये हैं।

फ्राउवाल्नर की दृष्टि में असंग के भाई वसुबन्धु और कोशकार वसुबन्धु दो अलग-अलग आचार्य थे[३६]। इस बात को सिद्ध करने के लिए फ्राउवाल्नर ने यशोमित्र द्वारा लिखी गई अभिधर्मकोश स्फुटार्था को उद्धृत किया है, जिसमें एक वृद्धाचार्य वसुबन्धु का उल्लेख है[३७] जो कोशकार वसुबन्धु के पूर्ववर्ती आचार्य थे। फ्राउवाल्नर ने असंग से वसुबन्धु को परवर्ती सिद्ध करने के लिए एक अन्य साक्ष्य भी प्रस्तुत किया है। इनका कहना है कि वसुबन्धु ने अभिधर्मकोशभाष्य

में एक स्थान पर पूर्वाचार्य कहकर पूर्ववर्ती आचार्यों के मत का उल्लेख किया है। इस शब्द की व्याख्या यशोमित्र ने योगाचारी असंगादि के रूप में की है।[३८]

एक और स्थान पर "पूर्वाचार्य का कथन" कहकर यशोमित्र ने असंग की व्याख्या की कुछ पंक्तियाँ दी हैं।[३९] इस प्रकार यशोमित्र की दृष्टि में कोशकार वसुबन्धु की तुलना में असंग आदि पूर्वाचार्य हैं। फ्राउवाल्नर कोशकार वसुबन्धु को असंग का भाई नहीं मानते हैं।[४०] श्चेरवात्सकी के अनुसार अभिधर्मकोशकार स्वयं अपने भाष्य में वृद्धाचार्य वसुबन्धु के मत का उल्लेख कर खण्डन करता है।[४१]

परमार्थ द्वारा लिखी गई वसुबन्धु की जीवनी में भी फ्राउवाल्नर ने तारतम्य नहीं माना है। क्योंकि परमार्थ ने वसुबन्धु की जीवनी के प्रथम भाग में इनके परिवार का सामान्य परिचय प्रस्तुत किया है तथा द्वितीय भाग में वसुबन्धु की जीवनी, किन्तु उसमें यह भी कहा गया है कि उसने संघभद्र से शास्त्रार्थ करने में असहमति प्रकट की थी, जो संघभद्र अभिधर्मकोशभाष्य का कटु आलोचक था। वहाँ ऐसा भी कहा गया है कि अपनी वृद्धावस्था के कारण वसुबन्धु ने यह असहमति दी थी, किन्तु उस जीवनी के तृतीय भाग में सूचित किया गया है कि वसुबन्धु अपने अग्रज असंग के प्रभाव से योगाचार में दीक्षित हुए तथा योगाचार पर अनेक ग्रन्थ लिखे।

फ्राउवाल्नर का कहना है कि जहाँ एक तरफ वसुबन्धु का महानतम चरित्र वर्णित है, वहीं दूसरी तरफ अपनी वृद्धावस्था के कारण संघभद्र से शास्त्रार्थ करने में असमर्थता वर्णित है।[४२] एक बात यह भी विचारणीय है कि जो वसुबन्धु अपनी वृद्धावस्था के कारण संघभद्र से शास्त्रार्थ न कर सके उन्हीं वसुबन्धु ने महायानी बनकर विज्ञानवाद के गूढ़ ग्रन्थों की रचना कैसे की?

अतः फ्राउवाल्नर का कहना है कि यह गलती परमार्थ के शिष्यों ने की है, जिन्होंने दोनों वसुबन्धु को एकसाथ जोड़ दिया है। परमार्थ ने तो दो वसुबन्धु के लिए दो अलग-अलग (निर्वाणोपरान्त ९०० वर्ष बाद तथा निर्वाणोपरान्त ११०० वर्ष) तिथियाँ दी हैं। फ्राउवाल्नर का कहना है कि ये दोनों तिथियाँ परमार्थ की भूलवश नहीं दी गई है, अपितु परमार्थ को दोनों वसुबन्धु की जानकारी थी। इसीलिए परमार्थ ने दो तिथियों को दिया है।[४३]

इसी तथ्य के आधार पर फ्राउवाल्नर ने कोशकार वसुबन्धु की तिथि पाँचवीं शताब्दी तथा असंग के भाई वसुबन्धु की तिथि चतुर्थ शताब्दी निश्चित की है।

फ्राउवाल्नर ने वृद्धाचार्य वसुबन्धु को असंग का भाई सिद्ध करने के लिए और भी साक्ष्य प्रस्तुत किये हैं। कुमारजीव ने अपने गुरु सूर्यसोम द्वारा प्रदत्त वसुबन्धु की एक कृति का उल्लेख किया है जिसे फ्राउवाल्नर ने सद्धर्मपुण्डरीकोपदेश स्वीकार किया है। कुमारजीवकृत वसुबन्धु की दो कृतियों का चीनी अनुवाद विद्यमान है —

(क) आर्यदेवकृत षट्शास्त्र पर लिखे गये भाष्य का ४०४ में चीनी अनुवाद हुआ था।

(ख) बोधिचित्तोत्पादनशास्त्र पर लिखे गये भाष्य का ४०५ ई० में चीनी अनुवाद हुआ था।

षट्शास्त्र भाष्य के चीनी अनुवाद में लेखक का नाम वसु-खाई-शी बतलाया गया है जिसे ताकाकुसु ने वसु नाम के अज्ञात आचार्य के रूप में स्वीकार किया है तथा एन० पेरी ने खाई-शी का अर्थ बोधिसत्व किया है और वसु को वसुबन्धु का संक्षिप्त रूप माना है।[४४]

फ्राउवाल्नर ने इन दोनों ग्रन्थों को वृद्धाचार्य वसुबन्धु से सम्बन्धित किया है क्योंकि कुमारजीव के इतने पहले की तिथि को कोशकार वसुबन्धु के साथ नहीं जोड़ा जा सकता।[४५]

कुमारजीव से पहले वसुबन्धु को सिद्ध करने के लिए फ्राउवाल्नर ने एक और साक्ष्य प्रस्तुत किया है। इनका कहना है कि बोधिरुचि ५०८ ई० में चीन गये थे। उन्होंने वसुबन्धुकृत "वज्रच्छेदिकाप्रज्ञापारमिता" पर वज्रश्री द्वारा लिखे गये भाष्य का ५३५ ई० में चीनी अनुवाद किया था। इस ग्रन्थ के अन्त में लिखा गया है कि मूल ग्रन्थ मैत्रेयनाथ की कृति है जिसे उन्होंने असंग को दिया जिसपर वसुबन्धु ने भाष्य लिखा। बोधिरुचि ने इस कृति की परम्परा का भी उल्लेख किया है जिसमें कहा गया है कि वसुबन्धु ने इस कृति को वज्रश्री को दिया था। वज्रश्री (चिन-काङ्-श्येन्) से अक्षयमति (वु चिन-ई-शेङ्-ची) तथा उससे बोधिरुचि (फू-भि-ल्यू-ची) को मिला। यह शिष्य-परम्परा २०० वर्ष तक चली। इस प्रकार वसुबन्धु से बोधिरुचि तक आदान-प्रदान करने में २०० वर्ष तक का समय लगा।

बोधिरुचि ने ५३५ ई० में वज्रश्रीकृत वज्रच्छेदिकाप्रज्ञापारमिताभाष्य का चीनी अनुवाद किया था। इसके २०० वर्ष पूर्व जाने पर ३३५ ई० की तिथि प्राप्त होती है। इस प्रकार फ्राउवाल्नर ने कुमारजीव द्वारा बताये गये संकेत को सिद्ध किया है।[४६]

फ्राउवाल्नर के मत का एक अन्य मूल्यवान स्रोत षट्शास्त्र पर इत्सिंग की व्याख्या है। यह चीन के सलगुन सम्प्रदाय का अनुयायी था जो सम्प्रदाय भारतीय महायान सम्प्रदाय का ही अनुकरण करता था। यह लेखक षष्ठ शताब्दी के अन्त और सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ था। वसुबन्धु की टीका के सहित षट्शास्त्र की उसकी व्याख्या का कुमारजीव ने अनुवाद किया था। इसमें इत्सिंग बताते हैं कि वसुबन्धु का जन्म हीनयान सम्प्रदाय के परिवार में पुरुषपुर में हुआ था तथा उसने पाँच सौ ग्रन्थों का प्रणयन किया था जिनमें से अधिकांश लुप्त हो गये। बाद में वसुबन्धु असंग के प्रभाव से महायानी बना, तब उसने महायान पर पाँच सौ ग्रन्थ लिखे। ऐसा प्रतीत होता है कि इत्सिंग के विवरण का आधार परमार्थकृत वसुबन्धु की जीवनी है। किन्तु यह भी स्पष्ट है कि कुछ बिन्दुओं को लेकर परमार्थ और इत्सिंग में मतभेद है क्योंकि परमार्थ के विवरण में अभिधर्मकोश की रचना को सर्वश्रेष्ठ माना गया है किन्तु इत्सिंग अभिधर्मकोश के बारे में मौन हैं। फ्राउवाल्नर इससे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि इत्सिंग ने वसुबन्धु की प्रामाणिक जीवनी को पुनः इस तरह प्रस्तुत किया जिसमें वह परवर्ती वसुबन्धु-विषयक समस्त सूचनाओं से मुक्त रहे।[४७]

एक अन्य स्रोत है सातवीं शताब्दी का चीनी आचार्य फतसंग का। इसने अपने ग्रन्थ (हुआवैनचिंगचुवानची) में वसुबन्धु की दो जीवनियों का उल्लेख किया है जिनमें सम्भवतः एक परमार्थ की जीवनी है और दूसरी उसके अतिरिक्त। फ्राउवाल्नर के मत में यह अन्य जीवनी निःसन्देह वृद्धाचार्य वसुबन्धु की है। अतः दो वसुबन्धुओं की मान्यता सर्वथा निराधार नहीं है। इसके आधार पर यह सहज ही अनुमेय है कि एक वसुबन्धु असंग का भाई था तथा दूसरा अभिधर्मकोशकार।[४८]

(स) विवेचन एवं निष्कर्ष

आचार्य वसुबन्धु का महायान में प्रवेश हुआ था। इस सन्दर्भ में पी० एस० जैनी ने[४९] अपने लेख में "अभिधर्मद्वीप" के कई उद्धरण देकर यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि वसुबन्धु महायानी भी बने थे। कोशकार वसुबन्धु की

सौत्रान्तिक पक्ष की आलोचना करते हुए "अभिधर्मद्वीप" प्रभावृत्ति (पृ० १०१) में स्पष्ट ही कहा है कि कोशकार वैतुलिकशास्त्र में प्रवेश कर रहे हैं।[५०] वैतुलिक-शास्त्र या वैपुल्यशास्त्र स्पष्टतः महायान का ग्रन्थ है। "अभिधर्मसमुच्चय" में असंग ने वैपुल्य को वैतुल्य के समान बतलाया है और बाद में वैपुल्यशास्त्र को 'बोधिसत्व-पिटक' कहकर उसकी व्याख्या की है।[५१]

अभिधर्मवृत्ति में और भी स्पष्ट कहा गया है कि कोशकार अब अयोग्य शून्यता में जा रहा हैं।[५२] इसके अतिरिक्त अन्य कई उद्धरणों के साथ जैनी ने सिद्ध किया है कि कोशकार वसुबन्धु का झुकाव न केवल सौत्रान्तिक मत की ओर था अपितु विज्ञानवाद की ओर भी था।

अकीरा हीराकावा[५३] ने भी कहा है कि कोशकार वसुबन्धु और योगाचारी वसुबन्धु एक ही व्यक्ति थे। इनके मत में कोशकार वसुबन्धु ने ही "विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि" की रचना की है।[५४] जबकि फ्राउवाल्नर[५५] ने इस पर अपना कोई निश्चित मत नहीं दिया है।

हीराकावा ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि कोश और विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि में प्रतिपादित कई सिद्धान्तों में समानता है। इसी आधार पर उसने इन दोनों कृतियों को एक ही आचार्य द्वारा प्रणीत सिद्ध करने की कोशिश की है। इनके अनुसार दिङ्नाग और स्थिरमति (जो वसुबन्धु के शिष्य बतलाये जाते हैं) द्वारा लिखी कोश की कई टीकाएँ आज भी तिब्बती परम्परा में सुरक्षित हैं।[५६] यशोमित्र ने भी कोशभाष्य की स्फुटार्था व्याख्या (पृ०३) के प्रारम्भ में ही उल्लेख किया है कि गुणमति, वसुमित्र आदि आचार्यों ने भी कोश की व्याख्या लिखी थी।[५७]

इतना ती निर्विवाद है कि उपर्युक्त टीकाकार योगाचार सम्प्रदाय के आचार्य थे। इससे यह प्रामाणित होता है कि कोश का अध्ययन योगाचार सम्प्रदाय में भी किया जाता था। इससे यह सिद्ध होता है कि कोशगत सिद्धान्त और विज्ञानवाद के सिद्धान्तों में कुछ समानता है। इस प्रकार अकीरा हीराकावा ने आचार्य वसुबन्धु द्वारा रचित ग्रन्थों के आधार पर यह दिखाया है कि वसुबन्धु का महायान में परिवर्तन हुआ था।

फ्राउवाल्नर का कहना है कि अभिधर्मकोश लिखने वाले वसुबन्धु असंग के भाई नहीं थे एवं उनका महायान में परिवर्तन नहीं हुआ था, यह कथन उचित प्रतीत नहीं हो रहा है। क्योंकि पी० एस० जैनी एवं अकीरा हीराकावा ने तर्कों

एवं प्रमाणों के द्वारा स्पष्ट कर दिया है कि अभिधर्मकोश लिखने वाले वसुबन्धु ने महायान स्वीकार किया था।

फ्राउवाल्नर का आक्षेप है कि वसुबन्धु की जीवनी में तारतम्य नहीं है, क्योंकि जो वसुबन्धु अपनी वृद्धावस्था के कारण अपने प्रबल आलोचक से शास्त्रार्थ तक नहीं कर सका, उसी वसुबन्धु ने अभिधर्मकोश के बाद विज्ञानवाद के इतने ग्रन्थों का कैसे प्रणयन किया।[५८]

इस समस्या का समाधान करने के लिए एक परम्परा को उद्धृत किया जा रहा है। तिब्बती इतिहासकार तारानाथ ने सूचना दी है कि वसुबन्धु ने संघभद्र से विभाषा अष्टादश निकायों के शास्त्र, तैर्थिकों के षड्दर्शनों के समस्त ग्रन्थों तथा तर्कमतों का अध्ययन किया था।[५९] तिब्बती इतिहासकार बुदोन ने बतलाया है कि वसुबन्धु ने वैभाषिक आचार्य संघभद्र से काश्मीर में शिक्षा ग्रहण की थी।[६०]

भारतीय परम्परा में यह माना जाता है कि गुरु का स्थान परम पूजनीय एवं सर्वोच्च होता है। ऐसी स्थिति में वसुबन्धु का गुरु के साथ शास्त्रार्थ करना उचित नहीं था।

फ्राउवाल्नर ने भगवान् के परिनिर्वाण के ९०० वर्ष बाद उत्पन्न होने वाले वसुबन्धु का समय ३२० से ३८० ई० निश्चित किया है, जबकि ११०० वर्ष बाद उत्पन्न होने वाले वसुबन्धु का समय ४०० से ४८० ई० निश्चित किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि दोनों परिनिर्वाण के बाद की तिथियों में २०० वर्ष का अन्तर है। लेकिन दोनों वसुबन्धु के समय में मात्र ८० वर्ष का अन्तर है। यदि छोटे वसुबन्धु (कोशकार) की तिथि ४०० से ४८० ई० स्वीकार कर लें तो वृद्धाचार्य वसुबन्धु का समय २०० ई० से २६० ई० होना चाहिए। इस प्रकार इस तिथि को असंग के साथ नहीं जोड़ा जा सकता, क्योंकि इन्होंने असंग का समय चतुर्थ शताब्दी निर्धारित किया है।

इस प्रकार से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि छोटे वसुबन्धु असंग के भाई तथा अभिधर्मकोश एवं विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि के प्रणेता थे।

फ्राउवाल्नर ने दो वसुबन्धुओं की मान्यता को जिन युक्तियों व प्रमाणों के साथ प्रस्तुत किया है तथा जिन कृतियों का श्रेय इन दो वसुबन्धुओं को दिया है, उनमें वसुबन्धु के नाम से प्रसिद्ध विज्ञप्तिमात्रता जैसे ग्रन्थ नहीं हैं। जबकि परम्परा व प्रमाण स्पष्ट ही ऐसे ग्रन्थों का प्रणेता वसुबन्धु को सिद्ध करते हैं।

अत: ऐसी स्थिति में दो नहीं तीन वसुबन्धु मानने की बाध्यता उपस्थित होती है। किन्तु इसमें पर्याप्त प्रमाणों का पुन: अभाव स्पष्ट है। फिर एकमात्र फ्राउवाल्नर ही दो वसुबन्धु के पक्ष के प्रति आग्रह रखता है। अन्य विद्वानों ने एक वसुबन्धु की मान्यता को ही प्रश्रय दिया है। अत: पर्याप्त प्रमाणों से जब तक दो वसुबन्धु की मान्यता निर्विवाद सिद्ध नहीं हो जाती, तब तक एक वसुबन्धु को मानना सर्वथा उचित है तथा इस वसुबन्धु का काल चतुर्थ शताब्दी अन्त से पाँचवीं शताब्दी तक माना जा सकता है।

सन्दर्भ :

१. बौद्ध दर्शन, पृ० २१।
२. बौद्ध मी०, पृ० ६।
३. बौद्ध इति०, पृ० ४३।
४. Takakusu, Study, p. 51.
५. Abhidharma Research Institute, 1986, p. 3.
६. Analytic, p. 31.
७. Frawallner, Buddhist, p. 7.
८. फ्राउवाल्नर दो वसुबन्धुओं की मान्यता का प्रबल समर्थक है। इस बिन्दु पर आगे यथास्थान विचार किया जायेगा।
९. Study, p. 44.
१०. चन्द्रगुप्त प्रथम ने मगध से प्रयाग और अयोध्या तक अपने राज्य का विस्तार किया था। —गैरोला, भारतीय सं०, पृ०३८४।
यहाँ स्मरणीय है कि इसमें पिता-पुत्र दोनों को विक्रमादित्य कहा गया है, जबकि विक्रमादित्य के पुत्र को विक्रमादित्य नहीं कहा गया है, बल्कि कुमारगुप्त को महेन्द्रादित्य कहा गया है।
११. Seven Works, p. 8.
१२. वही।
१३. गैरोला, भारतीय सं०, पृ० २८७।
१४. एनेकर ने चन्द्रगुप्त के पुत्र का नाम गोविन्दगुप्त का उल्लेख विशाखदत्त द्वारा लिखित देवीचन्द्रगुप्त नामक नाटक के आधार पर किया है, किन्तु सम्प्रति यह ग्रन्थ अप्राप्य है। —द्रष्टव्य, Seven Works, p. 21-23.
१५. वही, पृ० १०।

१६. (अ) Study, p. 50.

(ब) स्कन्धगुप्त के काल का प्रश्न विवादास्पद है। ताकाकुसु ने स्कन्धगुप्त के शासनकाल का उल्लेख ४५० से ४८० ई० तक किया है और इसके उत्तराधिकारी पुत्र बालादित्य के शासनकाल का उल्लेख ४८१ से ४९० ई० तक किया है, जबकि इतिहास के ग्रन्थों में स्कन्धगुप्त का शासनकाल ४५५ से ४६७ ई० तक माना गया है। ताकाकुसु ने स्कन्धगुप्त के पुत्र का नाम बालादित्य माना है, जबकि इतिहास अथवा अन्य ग्रन्थों में बालादित्य नाम नहीं बल्कि उपाधि माना गया है। इतिहास के ग्रन्थों में स्कन्धगुप्त के बाद शासन करने वाले राजा का नाम पुरुगुप्त माना गया है जिसका शासनकाल ४६७ से ४७३ ई० है।

(स) चन्द्रगुप्त द्वितीय के दो पुत्र थे जिनमें महेन्द्रादित्य की उपाधि से विभूषित कुमारगुप्त ज्येष्ठ था और विक्रमादित्य उपाधि से विभूषित स्कन्धगुप्त कनिष्ठ था।

द्रष्टव्य — गैरोला, भारतीय सं०, पृ० २८६-८७।

१७. प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० ५४१।

१८. पाण्डेय, विपुलचन्द्र, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० १२२।

१९. Study, p. 47.

२०. वही, पृ० ५१।

२१. दो वसुबन्धु को मानने वाले फ्राउवाल्नर ने "द्वितीय" वसुबन्धु का गुरु बुद्धमित्र को बताया है।

२२. सांख्य इ०, पृ० ४२६।

२३. Study, p. 48.

२४. सांख्य इ०, पृ० ४२६-२७।

२५. चतुर्वेदी, ब्रजमोहन, सांख्यकारिका, (पृ० ४० से ५०) गोपीनाथ हरदत्त शर्मा और कालिपद भट्टाचार्य के मत द्रष्टव्य।

२६. चतुर्वेदी, ब्रजमोहन, सांख्यका०, पृ० ५१।

२७क. कालिदास से बौद्धमत के सम्बन्ध की चर्चा के प्रसंग में अश्वघोष का स्मरण सहज ही हो जाता है, क्योंकि दोनों महाकवियों की पूर्वापरता तथा उनके काव्यों के परस्पर प्रभाव की चर्चा अनेक विद्वानों ने की है। खण्डन-मण्डन और युक्ति-प्रमाणों के लम्बे इतिहास के बावजूद आज भी दोनों पक्ष चर्चा में जीवित है— जिनमें एक कालिदास को पूर्ववर्ती बताता है तो दूसरा अश्वघोष को।

(ख) कालिदास के साहित्य में बुद्ध अथवा बौद्धमत का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से उल्लेख तथा अश्वघोष और कालिदास की पूर्वापरता पर कालिदास साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी से वार्तालाप हुआ। उनके विचार में कालिदास-साहित्य में बुद्ध अथवा बौद्धमत का प्रत्यक्षत: उल्लेख नहीं है। केवल कुमारसम्भवम् में एक स्थान पर 'बुद्ध' शब्द का तथा अन्यत्र 'निर्वाण' शब्द का उल्लेख आया है। उनकी व्याख्या के अनुसार बुद्ध शब्द यहाँ व्यक्तिवाचक संज्ञा नहीं है और निर्वाण शब्द भी बौद्धदर्शन से सम्बद्ध नहीं है। प्रो० द्विवेदी अश्वघोष से कालिदास को पूर्ववर्ती मानते हैं, किन्तु अपनी मान्यता के समर्थन में उन्होंने कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया।

(ग) आर० डी० कारमारकर दो कालिदास की मान्यता के समर्थक है। इनके अनुसार प्रथम कालिदास ई० पू० ३० से ईसा पश्चात् ३० तक हुए तथा दूसरे कालिदास गुप्तकाल में हुए।

—द्रष्टव्य-कालिदास, पृ० १५।

२८. The gulf between the different views has been considerably narrowed and at the present moment only two dates -- the traditional date 57 B.C. and 300 A.D. to 500 A.D. during the Gupta period are in the field. -- Karmarker. R.D.. p. 1.

२९. दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूलहस्तावलेपान्। —मेघदूत, १.१४।

३०. दिङ्नागाचार्यस्य हस्तावलेपान् हस्तविन्यासपूर्वकाणि दूषणानि परिहरन्।

— मेघदूत, १.१४ टीका।

३१. भारद्वाज, शिवप्रसाद, कालिदास-दर्शन, पृ० ३२।

३२. संस्कृत नाटकों में अतिप्राकृततत्व, पृ० ३८ और ३६७।

३३. The date of Buddhist master of Law Vasubandhu.

३४. On the theory of the Vasubandhu.

३५. Index to the Abhidharmakosh. Introduction.

३६. Buddhist. p. 12.

३७. (अ) आश्रयभूतरूपणादित्यपर इति वृद्धाचार्यवसुबन्धुः। —अभिस्फु०, पृ०४५।

(ब) वृद्धाचार्यवसुबन्धुदेशीय: कश्चित् परिहरति। — वही, पृ० ४५।

(स) इति स्थविर वसुबन्धुप्रभृतिभिरयं हेतुरुक्त: स चायुक्त:।—वही, पृ०४२९।

३८. पूर्वाचार्या: योगाचारा आर्यासङ्गप्रभृतय:,। —अभिस्फु०, पृ० ४२९।

३९. अत्र पूर्वाचार्या आहु: वितर्क कतम: चेतनां वा निश्रित्य प्रज्ञां वा

पर्येषकोमनोजल्पोऽनभ्यूहावस्थयो य चित्तसूक्ष्मता इति।

— अभिस्फु०, पृ० ३०६-७।

४०. Buddhist, p. 22.

४१. S. Chawdhuri, Analytical, p. 25.

४२. Buddhist, p. 15.

४३. वही, पृ० १९-२०.

४४. वही, पृ० ३६।

४५. वही, पृ० ४२।

४६. वही, पृ० ४३।

४७. Chawdhuri, Sukomal, Analytical, p. 26.

४८. वही, पृ० २७।

४९. On the theory, p. 48-53.

५०. तस्माद्वैतुलिकशास्त्रप्रवेशद्वारमारब्ध तेन भदन्तेनत्यध्युपेक्ष्यमेतत्।

५१. वैपुल्यानन्तपुण्यप्रसनबोधिसत्वपीटकधर्मः, पी०प्रधान०अभिधर्मसमुच्चय, पादटिप्पणी, पृ०८५।

५२. अभिधर्मसंमोहाङ् कस्यानेयात्माप्यङि कतो भवत्य योग शून्यताप्रपाताभिमुख्यत्वं प्रदर्शितमिति। —देखिए On the Theory, p. 51-52.

५३. Index, भूमिका।

५४. वही, पृ० ९।

५५. Buddhist, p. 56.

५६. स्थिरमतिकृत, अभिभा०, तत्वार्थटीका।

दिङ्नागकृत, अभिको०, पृ० मर्मप्रदीपवृत्ति।

सांकृत्यायन, राहुल, अभिको०, पृ० १८।

५७. गुणमतिवसुमित्राद्यैर्व्याख्याकारैः पदार्थविवृतिर्या।

सुकृता साभिमता मे लिखिता च तथायमर्थ इति ।।

५८. Buddhist, p. 15.

५९. भारत में बौद्ध इति०, पृ० ६७।

६०. वही, पृ० ४२३।

●

तृतीय अध्याय

वसुबन्धु एवं अन्य बौद्ध आचार्य

१. वसुबन्धु के पूर्ववर्ती आचार्य एवं उनका प्रभाव

सर्वास्तिवादी आचार्य

वसुबन्धु से पूर्ववर्ती सर्वास्तिवादी आचार्यों के नाम, काल एवं ग्रन्थों का अत्यन्त सुव्यवस्थित परिचय उपलब्ध नहीं होता है। कुछ परवर्ती आचार्यों एवं इतिहासकारों ने अपने ग्रन्थों में इस सम्प्रदाय से सम्बन्धित आचार्यों एवं उनके द्वारा रचित ग्रन्थों की सूचना दी है। परन्तु कुछ ऐसे ग्रन्थ हैं जिनके लेखकों के सन्दर्भ में विद्वानों में मतभेद है।

आचार्य नाम

धर्मत्रात, घोषक, वसुमित्र, बुद्धदेव, कात्यायनीपुत्र, महाकौष्ठिल, शारिपुत्र, स्थविरदेवशर्मा, पूरण, महामौद्गलायन, पार्श्व, भदन्त, कुशवर्मा, घोषवर्मा, द्रव, धर्मनन्दी, धार्मिक, सुभूति, पूर्णास, वक्कुल, वामक, श्रमदत्त, संघवसु, बुद्धरक्षित आदि।

आचार्य वसुबन्धु ने अभिधर्मकोशभाष्य के पंचमकोशस्थान में सर्वास्तिवाद की व्याख्या की है—

''ये हि सर्वमस्तीति वदन्ति अतीतमनागतं प्रत्युत्पन्नं च ते सर्वास्तिवादाः''।

अर्थात् जो अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न सब प्रकार की सत्ता को स्वीकार करते हैं, वे सर्वास्तिवादी हैं। इसके बाद वसुबन्धु ने काल के विवेचन के प्रसंग में (५.२५-२६) सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के चार मुख्य आचार्यों का नामतः उल्लेख किया है—

''धर्मत्रात घोषक वसुमित्र और बुद्धदेव।''

गोविन्दचन्द्र पाण्डेय ने भी विभाषा के आधार पर इन प्राचीन सर्वास्तिवादी आचार्यों के नामों की सूचना दी है।[१]

पार्श्व, भदन्त, कुशवर्मा, घोषवर्मा, द्रव, धर्मदत्त, धर्मनन्दी, धार्मिक, सुभूति, पूर्णास, वक्कुल, वामक, श्रमदत्त, संघवसु और बुद्धरक्षित।

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य सर्वास्तिवादी आचार्यों के नाम और इन आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों की सूचनाएँ भी प्राप्त होती हैं[२]—

ग्रन्थ		ग्रन्थकार
१. ज्ञानप्रस्थान	:	कात्यायनीपुत्र
२. प्रकरणवाद	:	वसुमित्र
३. संगीतिपर्याय	:	इस ग्रन्थ के लेखक के दो नाम प्राप्त होते हैं। महाकौष्ठित्र(यशोमित्रमत) तथा शारिपुत्र (चीनीमत)।
४. विज्ञानकाय	:	स्थविरदेवशर्मा
५. धातुकाय	:	इस ग्रन्थ के लेखक के सन्दर्भ में विद्वानों में मतभेद है। योशमित्र के अनुसार, लेखक का नाम पूरण है, जबकि चीनी मत में वसुमित्र।
६. धर्मस्कन्ध	:	इस ग्रन्थ के भी लेखक के सन्दर्भ में दो मत प्राप्त होते हैं। यशोमित्र के अनुसार इसके लेखक शारिपुत्र हैं, लेकिन चीनी मतानुसार महामौद्गलायन बतलाये गये हैं।
७. प्रज्ञप्तिशास्त्र	:	महामौद्गलायन।

लामा तारानाथ ने धर्मत्रात, घोषक, वसुमित्र और बुद्धदेव को वैभाषिक सम्प्रदाय का आचार्य कहा है,[३] किन्तु वसुबन्धु ने इनका उल्लेख (५.२५) सर्वास्तिवादी आचार्य के रूप में किया है।

वैभाषिक आचार्य

आचार्य वसुबन्धु से पूर्ववर्ती वैभाषिक[४] सम्प्रदाय के आचार्यों का नाम, काल एवं ग्रन्थों का निर्विवादरूप से अत्यन्त सुव्यवस्थित परिचय उपलब्ध नहीं होता है। कुछ परवर्ती आचार्यों एवं इतिहासकारों ने अपने ग्रन्थों में थोड़ी बहुत सूचनाएँ दी हैं।

यद्यपि वसुबन्धु ने "**अभिधर्मकोशभाष्य**" में वैभाषिक मतों का उल्लेख पूरे ग्रन्थ में किया है, परन्तु इस सम्प्रदाय से सम्बन्धित पूर्ववर्ती आचार्यों और

उनके सिद्धान्तों का नामतः उल्लेख नहीं किया है। मात्र एक स्थान (१.१३) पर संकेत किया है—

"स्थविरधर्मत्रातोदानवर्गीय करणादित्याहु वैभाषिकः"

इस सूचना के अतिरिक्त जापानी विद्वान् टी० किमुरा ने वसुबन्धु से पूर्ववर्ती वैभाषिक सम्प्रदाय के आचार्यों तथा उनके द्वारा रचित ग्रन्थों की सूचना दी है।[५]

आचार्य-नाम

धर्मोत्तर, धर्मश्री, उपशान्त और धर्मत्रात।

किमुरा के अनुसार—वैभाषिक मत के चार मुख्य ग्रन्थ थे, जिनमें सबसे प्राचीन ग्रन्थ का नाम अभिधर्महृदय था।[६] जबकि फ्राउवाल्नर ने इस ग्रन्थ का नाम अभिधर्मसार बतलाया है।[७] इसी तथ्य का समर्थन गोविन्दचन्द्र पाण्डेय ने किया है।[८] इस ग्रन्थ की रचना धर्मोत्तर ने की थी। इस ग्रन्थ में अभिधर्म के प्रमुख दार्शनिक प्रश्नों का व्याख्यान किया गया था। यद्यपि दार्शनिक प्रणाली के रूप में यह एक अपरिष्कृत स्वरूप तथा विषयवस्तु की रचना है।

इस ग्रन्थ की रचना के बाद में अभिधर्महृदय नाम से ही आचार्य उपशान्त ने एक दूसरा ग्रन्थ भी लिखा था जो धर्मोत्तरकृत अभिधर्महृदय का विकसित अथवा विस्तृत रूप था।

पुनः इस ग्रन्थ को विकसित तथा विस्तृत करके धर्मत्रात ने संयुक्तअभिधर्म-हृदय नामक ग्रन्थ लिखा था।[९] गोविन्दचन्द्र पाण्डेय के अनुसार धर्मत्रात ने लगभग ३२० ई० में अभिधर्मसार का विस्तृत संस्करण प्रस्तुत किया था जिस पर वसुबन्धु ने भी व्याख्या लिखी थी।[१०]

किमुरा के अनुसार भी धर्मत्रात द्वारा रचित अभिधर्महृदय को संशोधित तथा परिष्कृत करके आचार्य वसुबन्धु ने अभिधर्मकोश की रचना की।[११]

सौत्रान्तिक आचार्य

आचार्य वसुबन्धु से पूर्ववर्ती सौत्रान्तिक सम्प्रदाय में कुछ आचार्य हुए हैं जिनके सन्दर्भ में कोई सुव्यवस्थित सूचना नहीं मिलती है। कुछ परवर्ती आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में प्रस्फुट सूचनाएँ दी हैं जिनके आधार पर यहाँ इनका परिचय प्रस्तुत किया गया है।

आचार्य-नाम

कुमारलात और भदन्त।

आचार्य स्थविरभदन्त

भोट्टदेशीय साक्ष्य के अनुसार सौत्रान्तिकों में प्रथम आचार्य काश्मीर-निवासी सुप्रसिद्ध विद्वान् महास्थविर भदन्त हैं। ये कनिष्क के समकालीन आचार्य हैं। इनके समय में काश्मीर में सिंहनामा राजा का शासन था। बुद्ध-शासन के प्रति आस्था होने के कारण राजा ने प्रव्रज्या ग्रहण की एवं लोक में सिंह सुदर्शन के नाम से ख्याति प्राप्त की। इसके यश को सुनकर कनिष्क ने इसके पास जाकर धर्म का उपदेश सुना था। उस समय काश्मीर में शूद्रनामा (सूत्रनामा) नाम का अनेक साधनों से सम्पन्न परम धनाद्य ब्राह्मण रहता था। उसने दीर्घकाल में पाँच हजार भिक्षुओं में प्रथम सौत्रान्तिक आचार्य स्थविर भदन्त का सत्कार किया था।[१२]

गोविन्दचन्द्र पाण्डेय ने स्थविर भदन्त को सर्वास्तिवाद का आचार्य कहा है।[१३] परन्तु आचार्य यशोमित्र ने अभिधर्मकोशभाष्य की स्फुटार्था व्याख्या में (१.२०) स्थविर भदन्त को सौत्रान्तिक सम्प्रदाय का आचार्य कहा है।

आचार्य स्थविर भदन्त द्वारा रचित विभाषा नामक एक ग्रन्थ की सूचना आचार्य यशोमित्र ने अभिधर्मकोशभाष्य की स्फुटार्था (१.२०) में दी है।[१४] परन्तु यह दुर्भाग्य का विषय है कि यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इस स्थिति में स्थविरभदन्त के विचारों से अवगत होने का एकमात्र स्रोत अभिधर्मकोशभाष्य है जिसमें आचार्य वसुबन्धु ने बड़े आदर के साथ इनके मत का उल्लेख पाँच स्थानों[१५] पर किया है।

एक ओर जहाँ वसुबन्धु ने स्थविर भदन्त को इतना महत्त्व और मान दिया है, वहीं दूसरी ओर यह दुर्भाग्य का विषय है कि अन्य स्रोतों से इस आचार्य के विषय में विवरण प्राप्त नहीं होता है।

आचार्य कुमारलात—

आचार्य कुमारलात का काल नागार्जुन के समकालीन माना गया है। ये तक्षशिला के निवासी थे। वहाँ से बलात् कबन्ध देश में लाये गये तथा उस देश के राजा ने इन्हें निवास के लिए अपने महल में स्थान प्रदान किया।[१६]

ह्वेनसाँग के अनुसार आचार्य कुमारलात सौत्रान्तिक सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक माने गये हैं।[१७] इसी तथ्य का समर्थन युआनच्वाँग ने भी किया है।[१८] परन्तु रामशंकर त्रिपाठी ने इन्हें सौत्रान्तिक सम्प्रदाय का प्रतिष्ठापक नहीं माना है। बल्कि सौत्रान्तिक सम्प्रदाय की आचार्य-परम्परा में इनका पाँचवाँ स्थान होने का उल्लेख किया है।[१९] इनकी रचनाएँ कल्पनामण्डितिका व दृष्टान्तपंक्ति हैं। यत्र तत्र इस ग्रन्थ का नाम कल्पनालंकृतिका भी प्राप्त होता है।

आचार्य कुमारलात मूलाचार्य के भी नाम से विख्यात थे दृष्टान्तपंक्ति के लेखक होने के कारण इन्हें द्रष्टान्तिक के नाम से भी पुकारा जाता है।

आचार्य कुमारलात ने अपनी रचना में बुद्ध-पूजन को विशेष महत्त्व दिया है। इनके ग्रन्थ की अनेक कहानियाँ सर्वास्तिवादियों के विनयपिटक से संग्रहीत की गई हैं। गद्य और पद्य दोनों के मिश्रण के साथ साहित्यिक शैली में आचार्य कुमारलात ने इस ग्रन्थ का प्रणयन किया जिसमें अस्सी कथाएँ हैं। ग्रन्थ के आरम्भ में बुद्ध-धर्म की कोई मान्य शिक्षा दी गई है जिसमें बुद्ध-पूजन का विशेष महत्त्व बताया गया है। किसी जन्म में व्याघ्र के भय से एक व्यक्ति को ''नमो बुद्धाय'' इस् मन्त्र के उच्चारण से उस जन्म में मुक्त होने की घटना का बड़ा मार्मिक विवेचन किया गया है।

यद्यपि आचार्य कुमारलात सौत्रान्तिक सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य माने जाते हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थ में बुद्ध-भक्ति तथा बुद्ध-पूजन को विशेष महत्त्व प्रदान किया है। आचार्य वसुबन्धु ने भी इस सम्प्रदाय के सिद्धान्त को कुछ समय तक अपनाया है। अत: कुमारलात का प्रभाव वसुबन्धु पर अवश्य रहा है।

शून्यवादी आचार्य

आचार्य वसुबन्धु से पूर्व शून्यवाद सम्प्रदाय में दो महत्त्वपूर्ण आचार्य उत्पन्न हुए थे जिन्होंने इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को एक व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया है। ये हैं—नागार्जुन और आर्यदेव।

आचार्य नागार्जुन

चीनी परम्परा के अनुसार आचार्य नागार्जुन का काल बुद्ध के परिनिर्वाण के ७०० वर्ष पश्चात् था।[२०] इनका जन्म विदर्भ बरार में एक ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। बुदोन के अनुसार नागार्जुन ने ब्राह्मणों के ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन किया था।[२१] बौद्ध भिक्षु बनने के बाद बौद्ध ग्रन्थों का भी अध्ययन इन्होंने गम्भीरता

के साथ किया था। नागार्जुन का मूल स्थान आन्ध्रपथ में सम्भवतः धान्यकटक के समीप श्रीपर्वत पर था। इनका सम्बन्ध नालंदा एवं काश्मीर से भी था।[२२] श्रीपर्वत उस समय तंत्र-मंत्र विद्या के लिए प्रसिद्ध स्थान माना जाता था। ये वैद्यक तथा रसायनशास्त्र के भी आचार्य थे।

आचार्य नागार्जुन का सम्प्रदाय शून्यवाद है। ये इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य हैं।

आचार्य नागार्जुन के नाम से अनेक ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है, लेकिन उनकी प्रमुख कृतियाँ सात मानी जाती हैं[२३]—माध्यमिककारिका, युक्तिषष्ठिका, प्रमाणविध्वंसन, उपायकौशल, विग्रहव्यावर्तिनी, सुहृल्लेख और चंतुस्तव।

शून्यता के सिद्धान्त का दार्शनिक प्रतिपादन सर्वप्रथम आचार्य नागार्जुन ने किया है। इन्होंने अपने तर्क के द्वारा विपक्षी तर्क का खण्डन करके शून्यता को प्रतीत्यसमुत्पाद से अभिन्न सिद्ध किया है। प्रमाणशास्त्र का सर्वप्रथम विवेचन करने वाले भी यही हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थों में तर्कशास्त्र, प्रमाणों का खण्डन और प्रतिवादी पर विजय प्राप्त करने के उद्देश्य से निग्रहस्थान आदि साधनों का वर्णन किया है। परन्तु आचार्य नागार्जुन के बाद प्रमाणशास्त्र का विवेचन करने वाले द्वितीय आचार्य वसुबन्धु ही हैं।[२४]

आचार्य आर्यदेव

आचार्य आर्यदेव का काल २०० ई० से २२४ ई० अर्थात् तृतीय शताब्दी है।[२५]

आर्यदेव आचार्य नागार्जुन के प्रधान शिष्य थे।[२६] आचार्य आर्यदेव को काणदेव अथवा नीलनेत्र भी कहा गया है। आर्यदेव ने नालंदा जाकर मातृचेट नाम के माहेश्वर आचार्य से शास्त्रार्थ किया था एवं सद्धर्म की रक्षा की।[२७] इस प्रसंग में श्रीपर्वत से नालंदा जाते हुए मार्ग में आर्यदेव ने वृक्षदेवता को अपनी एक आँख का दान किया था।

चन्द्रकीर्ति के अनुसार आर्यदेव सिंहपुर के राजा के पुत्र थे। नागार्जुन का शिष्य बनकर इन्होंने समस्त विद्याओं तथा आस्तिक एवं नास्तिक समस्त दर्शनों का अध्ययन किया था।

आर्यदेव की प्रमुख कृतियाँ इस प्रकार हैं—

१. चतु: शतक, २. माध्यमिकहस्तबलप्रकरण, ३. स्खलितप्रमथनयुक्तिहेतुसिद्धि ४. ज्ञानसारसमुच्चय, ५. चयमिलायनप्रदीप, ६. चितावरणविशोधन, ७.चतु:पीठतंत्रराज, ८. चतु:पीठसाधन, ९. ज्ञानडाकिनीसाधन, १०. एकद्रुमपंजिका।[२८]

यद्यपि वसुबन्धु ने शून्यवाद सम्प्रदाय के आचार्यों के सिद्धान्तों का नामत: उल्लेख अभिधर्मकोशभाष्य में नहीं किया है, फिर भी इस सम्प्रदाय के आचार्यों का प्रभाव इनपर अवश्यमेव रहा है। क्योंकि प्रमाणशास्त्र का सर्वप्रथम विवेचन प्रस्तुत करने वाले आचार्य नागार्जुन हैं और द्वितीय वसुबन्धु। इस सूचना से यह स्पष्ट होता है कि नागार्जुन के दर्शन का प्रभाव वसुबन्धु पर पड़ा है, जिसके कारण वसुबन्धु ने प्रमाण-विषयक ग्रन्थों की रचना की है।

विज्ञानवादी आचार्य

आचार्य वसुबन्धु से पूर्व विज्ञानवाद सम्प्रदाय में कुछ महत्त्वपूर्ण आचार्य उत्पन्न हो चुके थे जिन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। परन्तु स्वतन्त्ररूप से अपने सन्दर्भ में कुछ नहीं लिखा। कुछ परवर्ती आचार्यों एवं इतिहासकारों ने इनके परिचय के सन्दर्भ में सूचनाएँ दी हैं। इन आचार्यों में प्रमुख हैं—मैत्रेयनाथ और असंग।

आचार्य मैत्रेयनाथ

आचार्य मैत्रेयनाथ, नागार्जुन से परवर्ती तथा असंग, वसुबन्धु से पूर्ववर्ती आचार्य हैं। इनके काल का उल्लेख तीसरी-चौथी शताब्दी प्राप्त होता है।[२९] परन्तु मैत्रेयनाथ के काल की प्रामाणिकता असंग व वसुबन्धु के काल-निर्णय की प्रामाणिकता पर निर्भर करती है।

आचार्य मैत्रेयनाथ विज्ञानवाद सम्प्रदाय के प्रवर्तक के रूप में माने जाते हैं। इस सम्प्रदाय से सम्बन्धित इनकी अनेक कृतियों की सूचना प्राप्त होती है। १. महायानसूत्रालंकार, २. धर्मधर्मताविभंग, ३. महायानउत्तरतंत्र, ४. अभिसमया-लंकारकारिका, ५. मध्यान्तविभंग।

आचार्य मैत्रेयनाथ को एक ऐतिहासिक पुरुष माना गया है।[३०] युवानच्वाँग के अनुसार असंग ने तुषित लोक में बोधिसत्व मैत्रेय से महायान के मुख्य ग्रन्थों को प्राप्त किया था।[३१] इसी तथ्य का समर्थन एनेकर ने भी किया है।[३२]

आचार्य मैत्रेयनाथ ने अपने आशय को सूत्रात्मक कारिकाओं में लिखा था। इनकी व्याख्या आचार्य असंग तथा वसुबन्धु ने की है। इसकी पुष्टि आचार्य वसुबन्धु द्वारा रचित ग्रन्थों को देखने से होती है। क्योंकि वसुबन्धु ने आचार्य मैत्रेयनाथ द्वारा लिखित ग्रन्थों में से किसी ग्रन्थ पर भाष्य तथा किसी ग्रन्थ पर टीका लिखी है।

इस प्रकार वसुबन्धु ने आचार्य मैत्रेयनाथ के सिद्धान्त को और स्पष्ट करने के लिए अथवा प्रचार-प्रसार के लिए भाष्य एवं टीका लिखकर सुगम बना दिया है। इन रचनाओं से मैत्रेयनाथ का प्रभाव वसुबन्धु पर लक्षित होता है।

आचार्य असंग

आचार्य असंग का काल चतुर्थ शताब्दी है।[३३] परन्तु असंग का काल वसुबन्धु के काल-निर्णय पर निर्भर है।

आचार्य असंग आचार्य मैत्रेयनाथ के शिष्य हैं। इन्होंने मैत्रेय की सहायता प्राप्त करने के लिए बारह वर्ष तक कुक्कुटपाद पर्वत की गुहा में तपस्या की। तत्पश्चात् इन्हें मैत्रेय का दर्शन प्राप्त हुआ। मैत्रेयनाथ के पूछने पर असंग ने बताया कि मैं महायान के प्रचार के लिए ज्ञान चाहता हूँ। तत्पश्चात् मैत्रेयनाथ असंग को तुषित लोक ले गये तथा वहीं असंग ने मैत्रेय से ६ माह तक शिक्षा प्राप्त की।

आचार्य असंग विज्ञानवाद सम्प्रदाय के आचार्य माने जाते हैं। इन्होंने ही इस सम्प्रदाय को एक निश्चित् स्वरूप प्रदान किया है।

आचार्य असंग की विज्ञानवाद-सम्प्रदाय से सम्बन्धित अनेक कृतियाँ प्रसिद्ध हैं[३४]—

१. महायानसम्परिग्रह,
२. योगाचारभूमिशास्त्र,
३. अभिधर्मसमुच्चय,
४. प्रकरणआर्यवाचा,
५. महायानसूत्रालंकार*।

इसके अतिरिक्त इन्होंने कुछ ग्रन्थों पर व्याख्याएँ भी लिखी हैं।

आचार्य असंग ने अपने शिष्यों द्वारा वसुबन्धु को महायान का उपदेश सुनाया तथा हीनयान से महायान में दीक्षित किया। इस प्रकार आचार्य असंग

का वसुबन्धु पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव माना जा सकता है। क्योंकि किसी सम्प्रदाय के आचार्य को अपने प्रभाव के द्वारा उस सम्प्रदाय से अलग कर किसी अन्य सम्प्रदाय में दीक्षित करना कठिन एवं महत्त्वपूर्ण कार्य है।

२. वसुबन्धु के परवर्ती आचार्य एवं उन पर प्रभाव

बौद्ध धर्म दर्शन के विकासक्रम में आचार्य वसुबन्धु से परवर्ती अनेक आचार्य हुए। इनमें वसुबन्धु से साक्षात् प्रभावित आचार्यों के नामों की सूची इस प्रकार है— स्थिरमति, दिङ्नाग, गुणप्रभ, विमुक्तसेन, धर्मपाल, धर्मकीर्ति आदि।

इन उपर्युक्त नामों में चार आचार्य (स्थिरमति, दिङ्नाग, गुणप्रभ और विमुक्तसेन) वसुबन्धु के साक्षात् शिष्य हैं। ये सभी आचार्य पञ्चम शताब्दी के हैं। सबका जन्म ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। फिर भी इन आचार्यों ने वसुबन्धु के पास आकर महायान दर्शन का अध्ययन किया, तत्पश्चात् उनके ग्रन्थों पर भाष्य एवं टीकाएँ लिखीं एवं उनके सिद्धान्तों का विस्तार किया।

स्थिरमति

आचार्य स्थिरमति का काल पञ्चम शताब्दी का अन्तिम भाग माना जाता है। इनका जन्म मध्यभारत के ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। इनका दूसरा नाम सारमति था।[३५]

स्थिरमति आचार्य वसुबन्धु के समान ही शास्त्रार्थी थे। वसुबन्धु के शिष्यों में इनका स्थान सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। अपने गुरु के सदृश इन्होंने भी अनेक प्रतिवादियों को शास्त्रार्थ में पराजित किया था। एक परम्परा के अनुसार स्थिरमति सात वर्ष की अवस्था में ही वसुबन्धु के समीप गये थे। तारादेवी इनकी इष्ट देवता थी।[३६]

आचार्य स्थिरमति का सम्प्रदाय विज्ञानवाद है। इनके द्वारा लिखित सात ग्रन्थों की सूचना मिलती है[३७] —

१. काश्यपपरिवर्तनटीका, २. सूत्रालंकारवृत्तिभाष्य, ३. त्रिंशिकाभाष्य, ४. पंचस्कन्धप्रकरणभाष्य, ५. अभिधर्मकोशभाष्यवृत्ति, ६. मूलमाध्यमिककारिकावृत्ति, ७. मध्यान्तविभंगभाष्यटीका।

इसके अतिरिक्त इनके नाम से दो अन्य ग्रन्थों की सूचना भी प्राप्त होती है।[३८] यथा— ८. महायानधर्मधातुअविशेषशास्त्र, १०. महायानोत्तरतंत्रशास्त्र।

आचार्य स्थिरमति द्वारा लिखित समस्त ग्रन्थ, भाष्य एवं टीका के रूप में प्राप्त होते हैं। इनमें आचार्य वसुबन्धु द्वारा लिखित ग्रन्थों पर टीकादि अधिक हैं। यथा—१. त्रिंशिकाभाष्य २. पन्चस्कन्धप्रकरणभाष्य ३ अभिधर्मकोशभाष्यवृत्ति ४. मध्यान्तविभागभाष्यटीका।

इन ग्रन्थों में वसुबन्धु द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या की गयी है। इसप्रकार स्थिरमति आचार्य वसुबन्धु के ग्रन्थों के प्रमुख टीकाकार के रूप में सामने आते हैं।

स्थिरमति द्वारा लिखित नौ ग्रन्थों का उल्लेख पूर्वपृष्ठों में किया गया है। इनमें महायान दर्शन से सम्बन्धित सात ग्रन्थ हैं। इस सूचना से ऐसा प्रतीत होता है कि इन पर आचार्य वसुबन्धु के महायान दर्शन का प्रभाव रहा है, जिसके कारण इन्होंने महायान दर्शन के सिद्धान्तानुसार स्वतंत्र ग्रन्थों, भाष्य एवं टीकाग्रन्थों का प्रणयन किया।

दिङ्नाग

आचार्य दिङ्नाग का काल पञ्चम शताब्दी का उत्तरार्ध भाग है। इनका जन्म दक्षिण में काँची के निकट सिंहवक्र नामक गाँव में ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। सर्वप्रथम ये वात्सीयपुत्र नागदत्त के शिष्य बने, तत्पश्चात् वसुबन्धु के शिष्य बनकर विद्या-अध्ययन किया।[३९]

आचार्य दिङ्नाग शास्त्रार्थ करने के उद्देश्य से उड़ीसा और महाराष्ट्र में भ्रमण करते थे। ये अधिक समय तक उड़ीसा में ही रहे थे। एक बार दिङ्नाग निमन्त्रण प्राप्त कर नालंदा महाविहार में गये। वहाँ इन्होंने सुदुनय नामक ब्राह्मण तार्किक को शास्त्रार्थ में पराजित किया। ये तंत्र और मंत्रशास्त्र के भी ज्ञाता आचार्य बतलाये जाते हैं।[४०]

आचार्य दिङ्नाग का सम्प्रदाय विज्ञानवाद है। इनके द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थों की सूचना प्राप्त होती है—

१. न्यायप्रवेश, २. प्रमाणसमुच्चय, ३. प्रमाणसमुच्चयवृत्ति, ४. हेतुचक्रडमरु, ५. प्रमाणशास्त्रन्यायप्रवेश, ६. आलम्बनपरीक्षा, ७. आलम्बनपरीक्षावृत्ति, ८. त्रिकालपरीक्षा, ९. मर्मप्रदीपवृत्ति।

दिङ्नाग को मध्यकालीन तर्कशास्त्र का प्रवर्तक कहा गया है। इस वाक्य की प्रामाणिकता दिङ्नाग द्वारा लिखित ग्रन्थों से सिद्ध होती है। क्योंकि इनके

द्वारा लिखित अधिकांश ग्रन्थ प्रमाण-विषय से सम्बन्धित हैं। दिङ्नाग से पहले आचार्य वसुबन्धु ने प्रमाण विषय से सम्बन्धित तर्कशास्त्र और वादविधि नामक दो ग्रन्थों की रचना की थी।

दिङ्नाग से पूर्व योगाचार सम्प्रदाय में तीन प्रमाणों की सत्ता स्वीकार की गयी थी,परन्तु दिङ्नाग ने इन तीन प्रमाणों को दो प्रमाणों में अन्तर्भूत किया। आचार्य वसुबन्धु द्वारा प्रतिपादित प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण है—

"ततोऽर्थादुत्पन्नं विज्ञानम्" इस लक्षण में बाह्य अर्थ की प्रतीत रहने के कारण दिङ्नाग ने इस प्रत्यक्ष के लक्षण में थोड़ा परिवर्तन करके दूसरा प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण प्रस्तुत किया है[४१]—

"प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्"।

अतः दिङ्नाग ने वसुबन्धु के सिद्धान्तों की रक्षा अथवा विस्तार के लिए इनके वादशास्त्र को प्रमाणशास्त्र के रूप में प्रतिपादित किया है। अतः सहज ही अनुमेय है कि दिङ्नाग ने आचार्य वसुबन्धु के ज्ञानमीमांसा से सम्बन्धित सिद्धान्तों को विस्तार देने के लिए अपने प्रमाण-विषयक ग्रन्थों की रचना की थी।

गुणप्रभ

आचार्य गुणप्रभ का काल पंचम शताब्दी माना जाता है। इनका जन्म मथुरा में ब्राह्मण परिवार में हुआ था। ये विनय के विद्वान् थे। इन्हें मूल सर्वास्तिवाद विनय का प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त था।[४२]

गुणप्रभ ने ब्राह्मण-परिवार में जन्म लेने के कारण सर्वप्रथम वेदशास्त्रों का अध्ययन किया। तत्पश्चात् मथुरा के एक विहार में प्रव्रज्या ग्रहण कर महान् आचार्य वसुबन्धु के पास श्रावक के त्रिपिटक और अनेक महायान सूत्रों का अध्ययन किया, जिससे समस्त निकायों के समस्त विनय शास्त्रों में पाण्डित्य सम्पन्न हुए। उस समय आचार्य वसुबन्धु के उत्तरार्ध जीवन काल में, राजा गम्भीरपक्ष की मृत्यु के पश्चात् पश्चिम मरुदेश में उत्पन्न राजा श्रीहर्ष का आविर्भाव हुआ। राजा श्रीहर्ष की बुद्धशासन के प्रति आस्था होने के कारण, इसने आचार्य गुणप्रभ को अपने गुरु के रूप में स्वीकार किया था।[४३]

गुणप्रभ द्वारा लिखित ग्रन्थों के सन्दर्भ में कोई सूचना नहीं मिलती है, किन्तु इन्होंने वसुबन्धु से महायान के सिद्धान्तों का अध्ययन किया था।

विमुक्तसेन

आचार्य विमुक्तसेन का काल पंचम शताब्दी है। इनका जन्म मध्यप्रदेश और दक्षिण दिशा के बीच ज्वालागुहा के समीप हुआ था।[४४]

विमुक्तसेन बुद्धदास के भतीजे तथा प्रज्ञापारमिता के विद्वान् थे।[४५] ये सर्वप्रथम कुरुकुल्लक सम्प्रदाय के आचार्य थे। इस सम्प्रदाय में पाण्डित्य-सम्पन्न होने के बाद ये महायान सम्प्रदाय के सिद्धान्त से अवगत होने के लिए आचार्य वसुबन्धु के समीप आये तथा इनसे प्रज्ञापारमिता का अध्ययन कर उसके सम्पूर्ण सूत्रों को कण्ठाग्र कर लिया।[४६] इनके द्वारा रचित ग्रन्थ 'अभिसमयालंकारव्याख्या' है।[४७]

आर्यदेशीय जनश्रुति के अनुसार विमुक्तसेन आचार्य वसुबन्धु के अन्तिम शिष्य हैं। इनका मन जब अनेक मतों से ऊब गया तब उन्होंने प्रज्ञापारमिता का मनन कर विशेष अनुभूति प्राप्त की।[४८]

अत: विमुक्तसेन ने आचार्य वसुबन्धु से महायान दर्शन का अध्ययन किया, तथा महायान दर्शन के ग्रन्थ अभिसमयालंकारकारिका पर व्याख्या लिखी जिससे इन पर वसुबन्धु का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। क्योंकि इनका पहले कुरुकुल्लक सम्प्रदाय था।

धर्मपाल

आचार्य धर्मपाल काञ्ची आन्ध्रप्रदेश के रहने वाले थे।[४९] इनका जन्म दक्षिण प्रदेश में हुआ था।[५०] इन्होंने धर्मदास से प्रव्रज्या ग्रहण कर विनय का अध्ययन किया। इसके बाद इन्होंने मध्य प्रदेश का भ्रमण किया तथा दिङ्नाग से सम्पूर्ण त्रिपिटक का अध्ययन किया। इनका सम्बन्ध नालंदा विश्वविद्यालय से भी रहा है।

धर्मपाल विज्ञानवाद सम्प्रदाय के आचार्य माने जाते हैं। इनके द्वारा प्रणीत ग्रन्थों का विवरण[५१] इस प्रकार है—१. आलम्बनप्रत्ययध्यानशास्त्रव्याख्या, २. विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिव्याख्या, ३. शतशास्त्रव्याख्या।

इस प्रकार धर्मपाल ने वसुबन्धु के सिद्धान्तों को स्पष्ट करने के लिए अथवा विज्ञानवाद सम्प्रदाय का विस्तार करने के लिए वसुबन्धुकृत "विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि" पर व्याख्या लिखी है। इससे स्पष्ट है कि इन्होंने वसुबन्धु के तत्वमीमांसा-सम्बन्धी सिद्धान्तों का विस्तार किया है। अत: इनपर वसुबन्धु की तत्त्वमीमांसा का प्रभाव स्वाभाविक है।

धर्मकीर्ति

आचार्य धर्मकीर्ति का काल सप्तम शताब्दी माना जाता है।[५२] इनका जन्म चोलदेश के तिरुमलई नामक गाँव में ब्राह्मण परिवार में हुआ था। तिब्बती परम्परा के अनुसार इनके पिता का नाम पोरुनन्द था।[५३]

तारानाथ[५४] के अनुसार धर्मकीर्ति ने १८ वर्ष की अवस्था तक ब्राह्मण विद्या का अध्ययन प्राप्त कर लिया था। तत्पश्चात् ये बौद्ध उपासक बनकर मध्यप्रदेश का भ्रमण करते हुए आचार्य धर्मपाल के समीप गये एवं वहीं पर प्रव्रज्या ग्रहण कर सम्पूर्ण त्रिपिटकों का अध्ययन किया। इसके बाद दिङ्नाग के शिष्य ईश्वरसेन से बौद्धन्याय का अध्ययन किया।

आचार्य धर्मकीर्ति विज्ञानवाद सम्प्रदाय की प्रमाणविद्या के आचार्य हैं। इनके द्वारा रचित मुख्य सात ग्रन्थों की सूचना प्राप्त होती है[५५]—१. प्रमाणवार्तिक, २. प्रमाणविनिश्चय, ३. न्यायबिन्दु, ४. सम्बन्धपरीक्षा, ५. हेतुबिन्दु, ६.वादन्याय, ७. सन्तानान्तरसिद्धि।

आचार्य वसुबन्धु के साथ धर्मकीर्ति को जोड़ने में बीच की कड़ी दिङ्नाग हैं। क्योंकि वसुबन्धु के सिद्धान्तों की रक्षा के लिए अथवा विस्तार के लिए दिङ्नाग ने ग्रन्थों की रचना की तथा पुनः धर्मकीर्ति ने दिङ्नाग के सिद्धान्तों की रक्षा के लिए प्रमाण-विषयक ग्रन्थों की रचना की।[५६]

इस प्रकार धर्मकीर्ति ने दिङ्नाग और वसुबन्धु के द्वारा स्थापित किये गये सिद्धान्तों की रक्षा के लिए अथवा प्रचार-प्रसार के लिए प्रमाण-विषयक ग्रन्थों की रचना की और इन दोनों आचार्यों के सिद्धान्तों की नींव को और मजबूत किया। यह एक महत्त्वपूर्ण प्रभाव कहा जा सकता है।

सन्दर्भ :

१. बौद्ध इति०, पृ० २६३।

२. उपाध्याय, बलदेव, बौद्धमी०, पृ० १५०-५१।

३. भारत में बौद्ध इ०, पृ० ४०।

४. कनिष्क के शासन काल में (विक्रम की दूसरी शताब्दी) उसकी आज्ञा से आचार्य पार्श्व ने काश्मीर में वीतराग बौद्ध भिक्षुओं की एक संगीति बुलाई थी, जिसके अध्यक्ष वसुमित्र तथा प्रधान सहायक महाकवि दार्शनिक अश्वघोष थे। इस संगीति में आर्य कात्यायनीपुत्र-रचित "ज्ञानप्रस्थानशास्त्र" के ऊपर

एक विशालकाय प्रामाणिक टीका लिखी गई, जो महाविभाषा या विभाषा के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसी विभाषा को सबसे अधिक महत्त्व देने वाले सम्प्रदाय को वैभाषिक कहा गया। यशोमित्र ने अभिधर्मकोशभाष्य की स्फुटार्था व्याख्या में वैभाषिकों की व्याख्या प्रस्तुत की है। इनके अनुसार "विभाषया दीव्यन्ति चरन्ति वा वैभाषिकाः विभाषां वा विदन्ति वैभाषिकाः।"

५. Date of vasubandhu, p. 89.

६. वही.

७. वही, पृ० ४१.

८. बौद्ध इति०, पृ० २६४।

९. Date of Vasubandhu, p. 89.

१०. बौद्ध इति०, पृ० २६४।

११. Date of vasubandhu, p. 89.

१२. त्रिपाठी, रामशंकर, सौत्रान्तिकदर्शनम्, पृ० ७६।

१३. बौद्ध इति०, पृ० २६३।

१४. सौत्रान्तिकदर्शनावलम्बी चायं भदन्तो विभाषायां लिखितः ।।

१५अ. भदन्त आह-औदारिकरूपं पन्चेन्द्रियग्राह्यम् सूक्ष्ममन्यत्। हीनममनापम। प्रणीतं मनापम् दूरमदृश्यदेशम्। आन्तिकं दृश्यदेशम्। अतीतादीनां स्वशब्देनाभिहितत्वात्। एवं वेदनादयोऽपि वेदितव्याः। दूरान्तिकत्वं तु तेषामाश्रयवशात्। —अभिभा०, १.२०।

ब. भदन्तमतं चैष्टव्यम्-अन्यथा हि सान्तराणां परमाणूनां शून्येष्वन्तरेषु गतिः केन प्रतिबध्येत यतः सप्रतिघा इष्यन्ते।—अभिभा०, १.४३।

स. नास्ति नियमः इति भदन्तः —यावदुपपतिसामग्रीं न लभते नहि तस्यायुषः पृथगेवाक्षेपः एकनिकायसभागत्वात्। इतरथा हि तस्यायुषः क्षयान्मरणभवः प्रसज्येत। —अभिभा०, ३.१४

द. उपात्तेषु स्कन्धेषु त्रिकालया चेतनया प्राणातिपातावद्येन स्पृश्यते घातक इति भदन्तः। —अभिभा०, ४.४।

य. अत एव तिर्यक्प्रेतानामपि नेष्यते। पटुबुद्धीनां स्यादश्वाजनेयवदिति भदन्तः।—अभिभा०, ४.९७।

१६. उपाध्याय, बलदेव, बौद्धमी०, पृ० १८४।

१७. वही, पृ० १८४।

१८. पा० गो० चन्द्र, बौद्ध इति०, पृ० २८२।
१९. सौत्रान्तिकद०, पृ० ११-१२।
२०. पाण्डेय, गो० च०, बौद्ध इति०, पृ० ३६८।
२१. उपाध्याय, बलदेव, बौद्धमी०, पृ० २३६।
२२. पाण्डेय, गो० च०, बौद्ध इति०, पृ० ३७२।
२३. उपाध्याय, बलदेव, बौद्धमी०, पृ० ३६-६७।
२४. वही, पृ० ८२-८३।
२५. वही, पृ० २३७।
२६. पाण्डेय, गो० च०, बौद्धइति०, पृ० २९२।
२७. उपाध्याय, बलदेव, वही, पृ० २३७।
२८. पाण्डेय, गो० च०, बौद्धइति०, पृ० ३९३।
२९. वही, पृ० ४०६।
३०. वही, पृ० ४०६; उपाध्याय, बलदेव, बौद्धमी०, पृ० १८९।
३१. पाण्डेय, गो० च०, वही, पृ० ४०६।
३२. Seven Works, p. 14.
३३. उपाध्याय, बलदेव, बौद्धमी०, पृ० २०१।
३४. पाण्डेय, गो० च०, बौद्धइति, पृ० ४२०।
*. बौद्धभारती ग्रन्थमाला में प्रकाशित "महायानसूत्रालंकार" को आर्य असंग-विरचित बताया गया है। इसके सम्पादक स्वामी द्वारिकादास शास्त्री हैं। आचार्य नरेन्द्रदेव के मतानुसार यह गुरु मैत्रेयनाथ और शिष्य असंग की सम्मिलित कृति है। मूल भाग मैत्रेयनाथ का और टीकाभाग आर्य असंग का है।
३५. तिवारी, महेश, विज्ञप्तिसि०, पृ० ५।
३६. त्रिपाठी, रामशंकर एवं धुबतनछोगडुब शास्त्री, विज्ञप्तिप्र०, पृ० १०३-४।
३७. उपाध्याय, बलदेव, बौद्धमी०, पृ० २०३।
३८. तिवारी, महेश, वही, पृ० ५।
३९. पाण्डेय, गो० च०, बौद्धइति०, पृ० ४४७।
४०. उपाध्याय, बलदेव, वही, पृ० २०४।
४१. वही, पृ० २०५।
४२. पाण्डेय, गो० च०, वही, पृ० ४४७।

४३. तारानाथ, भारत में बौद्धइ०, पृ० ७०-७१।

४४. वही, पृ० ७६।

४५. पाण्डेय, गो० च०, वही, पृ० ४४७।

४६. तारानाथ, वही, पृ० ७६।

४७. पाण्डेय, वही, पृ० ४४७।

४८. तारानाथ, वही, पृ० ७६।

४९. उपाध्याय, बलदेव, वही, पृ० २०६।

५०. तारानाथ, वही, पृ० ८७।

५१. उपाध्याय, बलदेव, वही, पृ० २०६।

५२. पाण्डेय, गो० च०, वही, पृ० ४५०।

५३. उपाध्याय, बलदेव, वही, पृ० २०७।

५४. भारत में बौद्ध इ०, पृ० ९५।

५५. पाण्डेय, गो० च०, वही, पृ० ४५०-५१।

५६. आचार्य धर्मकीर्ति द्वारा लिखित वादन्याय ग्रन्थ की व्याख्या करते हुए शान्तरक्षित ने लिखा है कि—

"अयं वादन्यायमार्गः सकललोकानिबन्धनबन्धुना वादाविधानादौ आचार्य वसुबन्धुना महाराजपथीकृतः ।

क्षुण्णश्च तदनु महत्यां न्यायपरीक्षायां कुमतिमतमत्तमातङ्शिरः पीठपाटनपटु-भिराचार्यदिङ्नागपादैः।"

इस वाक्य से यह सिद्ध होता है कि आचार्य वसुबन्धु ने न्यायशास्त्र पर वादविधान नामक ग्रन्थ लिखा था, जिसमें प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का लक्षण प्रस्तुत किया गया था।

इसकी प्रामाणिकता के लिए एक अन्य तर्क भी है। न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका में वाचस्पतिमिश्र ने—"अपरे पुनर्वर्णयन्ति ततोऽर्थाद्विज्ञानं प्रत्यक्षमिति" की व्याख्या करते हुए लिखा है कि—"तदेवं प्रत्यक्षलक्षणं समर्थ्य वासुबन्धवं तत् प्रत्यक्षलक्षणं विकल्पयितुमुपनश्यति"।

इस सूचना से यह प्रामाणित होता है कि वसुबन्धु ने वादविधि नामक ग्रन्थ लिखा था, जिसमें प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का लक्षण किया गया था।

●

चतुर्थ अध्याय

वसुबन्धु की कृतियाँ

पूर्व पृष्ठों में दो वसुबन्धु तथा उनके काल के विषय में प्रचलित विवादों पर प्रकाश डाला गया। इन्हीं विवादों की भाँति उनकी प्रामाणिक रचनाओं की संख्या भी विवाद का एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु है।

वसुबन्धु का सम्बन्ध बौद्धदर्शन के तीन सम्प्रदायों (वैभाषिक, सौत्रान्तिक और विज्ञानवाद) से रहा है। इन्होंने तीनों सम्प्रदायों पर भिन्न-भिन्न ग्रन्थ लिखे हैं। इसलिए इनके ग्रन्थों में विविधता होना स्वाभाविक है। एक परम्परा के अनुसार इस महान् आचार्य ने प्रत्येक सम्प्रदाय के सिद्धान्तों पर पाँच-पाँच सौ ग्रन्थ लिखे थे। इस तथ्य की पुष्टि में प्रमाणों का अभाव है। मानव-शक्ति की दृष्टि से यह बात अतिशयोक्ति पूर्ण भले ही प्रतीत हो, फिर भी इससे वसुबन्धु की अद्भुत ग्रन्थ-लेखन-क्षमता का अनुमान तो सहज ही सम्भव है।

वसुबन्धु का रचना-संसार विविध और व्यापक है। विभिन्न वैचारिक स्तर पर विभिन्न सम्प्रदायों को क्रमशः स्वीकार करने के कारण ऐसा सम्भव हो सका है। इनकी रचनाओं के बारे में कुछ सूचनाएँ चीनी साहित्य और चीनी यात्रियों के यात्रा-विवरणों से प्राप्त होती हैं तथा कुछ सूचनाएँ तिब्बती स्रोतों से प्राप्त होती हैं। लेकिन भिन्न-भिन्न स्रोतों से प्राप्त सूचनाओं में सर्वत्र पूर्णतया संगति नहीं दिखाई देती, जिनके कारण वसुबन्धु के ग्रन्थों की संख्या और अधिक बढ़ती चली जाती है। यद्यपि यह स्पष्ट है कि वसुबन्धु ने अपने ग्रन्थों की रचना संस्कृत भाषा में की थी, किन्तु आज उनके नाम से चीनी व तिब्बती में भी ग्रन्थ प्राप्त होते हैं, जो निःसन्देह अनूदित होकर गए हैं और जिनका मूल संस्कृत रूप दुर्भाग्य से आज उपलब्ध नहीं है।

१. रचनाओं का वर्गीकरण

अ. समस्त सूचियों में प्राप्त ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन

सारनाथ पुस्तकालय से प्राप्त ग्रन्थ-सूची	तारानाथ द्वारा सूचित ग्रन्थ	राहुलसांकृत्यायन द्वारा सूचित ग्रन्थ	प्रो० महेश तिवारी द्वारा सूचित ग्रन्थ	तिब्बती भाषा के ग्रन्थ
१	२	३	४	५
१. अभिधर्मकोशकारिका	अभिधर्मकोशकारिका	अभिधर्मकोशाशस्त्रम्	अभिधर्मकोश तथा भाष्य	छोस-ङोन-प-जोद-छि-दिग-सु-चद-प।
२. अभिधर्मकोशभाष्य	अभिधर्मकोशभाष्य	–	–	छोस-ङोन-जोद-कि-शद-प।
३. आर्यअक्षयमतिनिर्देश-टीका	अक्षयमतिनिर्देशटीका	–	–	फगस-प-लो-ड्रोस-मि-जद-पहि-तन-प-ग्या-छेर-ड्रेल-द्य।
४. आर्यगयाशीर्षनाम-सूत्रव्याख्या	आर्यगयाशीर्षनामसूत्र-व्याख्यान	–	–	फगस-प-गया-गो-री-शेस-ज-वहि-दोन-नम-पर-शद-प
५. आर्यदशभूमिव्याख्यान	आर्यदशभूमिव्याख्या	दशभूमिकशास्त्रम्	दशभूमिशास्त्र	फगस-प-स-चु-पहि-नम-पर-शद-प।
६. आर्यभगवतीप्रज्ञापार-मितावज्रच्छेदिका-	–	वज्रच्छेदिकाप्रज्ञापार-मितासूत्रशास्त्रम्	वज्रच्छेदिकासूत्रशास्त्र	फगस-प-चोम-दन-दे-म-शेस-रब-फि-फा-रोल-तु-

१	२	३	४	५
सप्तार्थटीका				छिन-प-दोर्जे-चोद-पहि-दोन-दुन-गि-ग्या-छेर-ड्रेल-प।
७. आर्यभद्रचर्याप्रणिधानटीका	आर्यभद्रचर्याप्रणिधानटीका	–	–	फगस-प-जङ-पो-चोद-पहि-मोन-लम-गि-ड्रेल-प।
८. आर्यषण्मुखधारणी-व्याख्यान	आर्यषण्मुखधारणी-व्याख्या	–	–	फगस-प-गो-ड्रुग-पहि-ज़ुङ-स-कि-नम-पर-शद-प।
९. एकगाथाभाष्य	एकगाथाभाष्य	–	–	छिगस-सु-चद-प-चिग-पहि-शद-प।
१०. कर्मसिद्धिप्रकरण	कर्मसिद्धिप्रकरण	कर्मसिद्धिप्रकरणशास्त्रम्	कर्मसिद्धिप्रकरण	लस-डुब-पहि-रब-तु-जेद-प।
११. गाथासंग्रहशास्त्रार्थनाम	गाथासंग्रहशास्त्रार्थनाम	–	–	छिगस-सु-चद-पहि-दोन-दुस-शेस-ज-वहि-तन-चोस।
१२. गाथासंग्रहशास्त्रनाम	गाथासंग्रहशास्त्रनाम	–	–	तन-चोस-छिगस-सु-चद-प-दुस-प-शेस-ज-व।
१३. धर्मधर्मताविभङ्गवृत्ति	धर्मधर्मताविभङ्गवृत्ति	–	–	छोस-दङ्-छोस-जिद-नम-पर-जेद-पहि-ड्रेल-प।

१	२	३	४	५
१४. पञ्चकामगुणोपालम्भ-निर्देश	पञ्चकामगुणोपालम्भ-निर्देश	–	–	दोद-पहि-योन-तन-ङ-हि-ञेस-मिग-शद-प।
१५. पञ्चस्कन्धप्रकरण	पञ्चस्कन्धप्रकरण	पञ्चस्कन्धशास्त्रम्	पञ्चस्कन्धशास्त्रम्	फुङ-पो-ङ हि-रब-तु-जेद-प।
१६. प्रतीत्यसमुत्पादादि-विभंगभाष्य	प्रतीत्यसमुत्पादादि-विभंगनिर्देश	–	–	तेन-चिङ-ड्रेल-पर-जुङ-व-दङपोहि-नम-पर-एवा-शद-प।
१७. व्याख्यायुक्ति	व्याख्यायुक्ति	व्याख्यायुक्ति	व्याख्यायुक्ति	नम-पर-शद-पहि-रिग-प।
१८. व्याख्यायुक्तिसूत्रखण्ड-शत	व्याख्यायुक्तिसूत्रखण्ड-खण्डशतकम्	व्याख्यायुक्तिसूत्रखण्ड-खण्डशतकम्	–	नम-पर-शद-प-रिग-पहि-दो-हि-दुम-बु-ग्या।
१९. विंशिकावृत्ति	विंशिकावृत्ति	विज्ञान (विद्या) मात्रसिद्धिः	विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि (विंशिका एवं त्रिंशिका)	ञि श्रु-पहि-ड्रेल-प।
२०. विंशककारिका	विंशककारिका	–	–	ञि श्रु-पहि-छिग-ले-हुर-जस-प।
२१. त्रिंशिकाकारिका	त्रिंशिकाकारिका	–	–	सुम-चु-पहि-छिग-ले-हुर-जस-प।

१	२	३	४	५
२२. विवृतगुह्यार्थपिण्ड-व्याख्या	विवृगुह्यार्थपिण्डव्याख्या	–	–	दोन-सङ-व-नम-पर-छे-व।
२३. बुद्धानुस्मृति	बुद्ध अनुस्मृतिटीका	–	–	सङ-ग्यास-जे स-सु-जुङ् पहि-ग्या-छेर-ड्रेल-प।
२४. मध्यान्तविभंगटीका	मध्यन्तविभंगटीका	मध्यन्तविभंगशास्त्रम्	मध्यान्तविभागशास्त्र	उइस-दङ-था-नम-पर-जेद पहि-ड्रेल-प।
२५. महायानसंग्रहभाष्य	महायानसंग्रहभाष्य	–	–	थेग-प-छेन-पो-दुस-पहि-ड्रेल-प।
२६. महायानसतधर्मप्रकाश-द्वारशास्त्र	महायानसतधर्मप्रकाश-मुखशास्त्र	महायानशतधर्मविद्याद्वार-शास्त्रम्	महायानशतधर्मविद्याद्वार-शास्त्रम्	थेग-प-छेन-पोहि-छोस-ग्या-सल-पहि-गोहि-तन-चोस।
२७. सप्तगुणपरिवादनकथा	सप्तगुणपरिवर्णनकथा	–	–	योन-तन-दुन-योङस-सु-जोद-पहि-तम।
२८. सप्तगुणविवरणकथा	सप्तगुणवर्णनाकथा	–	–	योन-तन-दुन-तन-पहि-तम।
२९. सम्भारपरिकथा	सरम्भारपरिकथा	–	–	छ्रोगस-कि-तम
३०. सूत्रालंकारव्याख्या	सूत्रालंकारभाष्य	–	–	दो-दे-ग्यन-गि-शद-प।

१	२	३	४	५
३१. शीलपरिवादनकथा	शीलपरिकथा	–	–	छुल-ठिय-कि-तम।
३२. त्रिरनस्तोत्र	त्रिरत्नस्तोत्र	–	–	कोन-छोग-सुम-गि-तोदपा।
३३. त्रिस्वभावनिर्देश	त्रिस्वभावनिर्देश	त्रिस्वभावनिर्देश	–	रङ-शिन-सुम-ङेस-पर-तन-प।
३४. –	आर्यचतुर्धर्मकव्याख्यान	–	–	–
३५. –	–	वज्रच्छेदिकासूत्रशास्त्रम	–	–
३६. –	–	महायानसंपरिग्रहशास्त्र-व्याख्या	महायानसंपरिग्रहशास्त्र-व्याख्या	–
३७. –	–	सतशास्त्रव्याख्या	सतशास्त्रव्याख्या	–
३८. –	–	नयशीर्षसूत्रटीका	नयशीर्षसूत्रटीका	–
३९. –	–	विशेषचिन्ताब्राह्मणपरिपृच्छा-सूत्रटीका	विशेषचिन्ताब्राह्मणपरि-पृच्छासूत्रटीका	–
४०. –	–	त्रिपूर्णसूत्रोपदेश	तिपूर्णसूत्रोपदेश	–
४१. –	–	अपरिमितायुःसूत्रशास्त्रम्	अपरिमितायुसूत्रोपदेश	–
४२. –	–	धर्मचक्रप्रवर्तनसूत्रोपदेशः	धर्मचक्रप्रवर्तनसूत्रोपदेश	–

१	२	३	४	५
४३. –	–	महापरिनिर्वाणसूत्रशास्त्रम्	महापरिनिर्वाणसूत्रटीका	–
४४. –	–	निर्वाणसूत्रपूर्वभूतोत्पन्नभूत (निर्वाणसूत्रान्त)	निर्वाणसूत्रपूर्वभूतोत्पन्नभूत (निर्वाणसूत्रान्त)	–
४५. –	–	महापरिनिर्वाणव्याख्या	–	–
४६. –	–	विद्यामात्रसिद्धित्रिदशशास्त्रम्	विद्यामात्रसिद्धित्रिदशशास्त्रम्	–
४७. –	–	बोधिचित्तोत्पादनशास्त्रम्	बोधिचितोत्पादनशास्त्र	–
४८. –	–	बुद्धगोत्रशास्त्रम्	बुद्धगोत्रशास्त्र	–
४९. –	–	शमथविपश्यनाद्वारशास्त्र-कारिका	–	–
५०. –	–	सद्वारोपदिष्टध्यानव्यवहार-शास्त्रम्	सद्वारोपदिष्टध्यानव्यवहार-शास्त्रम्	–
५१. –	–	सद्धर्मपुण्डरीकसूत्रशास्त्रम्	सद्धर्मपुण्डरीकटीका	–
५२. –	–	रत्नचूड़सूत्रचतुर्धर्मोपदेशः	रत्नचूड़सूत्रचतुर्धर्मोपदेश-	–
५३. –	–	तर्कशास्त्रम्	तर्कशास्त्रम्	–

१	२	३	४	५
५४. –	–	नयशीर्षशास्त्रगम्	–	–
५५. –	–	–	परमार्थसप्तति	–
५६. –	–	–	वादविधि	–
५७. –	–	–	गाथासंग्रह	–
५८. –	–	–	प्रतीत्यसमुत्पादसूत्रटीका	–
५९. –	–	–	महायानसूत्रालंकारटीका	–

१. टीकाएँ, अनुवाद और अध्ययन

अ. अभिधर्मकोशकारिका एवं भाष्य : मूल ग्रन्थ

सन्	लेखक	भाषा	प्रकाशक	विशेष
१	२	३	४	५
५००	वसुबन्धु	संस्कृत	अज्ञात	मूलग्रन्थ
८१६-८३८	जिनमित्र कूटरक्षित		अज्ञात	संपादन
१९३०	राहुलसांकृत्यायन	संस्कृत	काशी विद्यापीठ, वाराणसी	संपादन
१९३२-३६	वोगिहरा	रोमन-लिपि	कलकत्ता ओरियण्टल सीरिज	संपादन
१९४६	पी०वी०गोखले		रायल एशियाटिक सोसाइटी, बम्बई जरनल खण्ड २२	संपादन
१९४८	पानाडुरा	सिंहली	श्रीलंका	संपादन
१९४९-५७	एन०एन०ला और एन० दत्ता	संस्कृत	कलकत्ता ओरियण्टल सीरिज	संपादन

१	२	३	४	५
१९६७	पी० प्रधान	संस्कृत	काशीप्रसाद जायसवाल अनुशीलन संस्थान, पटना	संपादन
१९८१	स्वामी द्वारिकादास शास्त्री	संस्कृत	बौद्ध भारती ग्रन्थमाला प्रकाशन, वाराणसी	सम्पादन

ब. अभिधर्मकोशकारिका एवं भाष्य : टीकाएँ

सन्	लेखक		टीकानाम	
५००-५७०	स्थिरमति		तत्त्वार्थ	
५००	दिङ्नाग		मर्मप्रदीपवृत्ति	
	पुण्यवर्धन		लक्षणानुसारिणी	
	शान्तिस्थिरदेव		औपायिकी	
५००	गुणमति			
	वसुमित्र			
	यशोमित्र		स्फुटार्था	

स. अभिधर्मकोश : अनुवाद

सन्	अनुवादक	भाषा	प्रकाशकनाम	विशेष
१	२	३	४	५
५६३-६७	परमार्थ	चीनी	अज्ञात	अनुवाद
६५१-५४	शुआन्च्वाँग	चीनी	अज्ञात	अनुवाद
११७	जिनमित्र और पल-येग्स रक्षित	तिब्बती	अज्ञात	अनुवाद
१९२३-३१	ह्वेनसांग	चीनी	अज्ञात	अनुवाद
१९५६	आचार्य नरेन्द्रदेव	हिन्दी	हिन्दुस्तानी एकेडमी उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद	अनुवाद
	(१९५८) (१९७३) (१९८४)			
१९८७	महेश तिवारी (प्रथम कोशस्थान-कारिका)	अंग्रेजी	दिल्ली विश्वविद्यालय	अनुवाद

द. वसुबन्धु एवं अभिधर्मकोश : विविध अध्ययन

सन्	लेखक	ग्रन्थ	प्रकाशकनाम	
१	२	३	४	
–	परमार्थ	वसुबन्धु की जीवनी	अज्ञात	
१९०४	वाटर्सथामस	शुआन्च्वाँग ट्रैवल्स इन इण्डिया	लन्दन	
१९०५	ताकाकुसु	स्टडी ऑफ परमार्थाज लाइफ आफ वसुबन्धु एण्ड डेट ऑफ वसुबन्धु	लन्दन	
१९०४-५	ताकाकुसु	आन द अभिधर्म ऑफ द सर्वास्तिवाद		
१९२९	टी० किमुरा	द डेट वसुबन्धु सीन फ्रॉम द अभिधर्मकोश	इण्डियन स्टडीज	
१९२९	ताकाकुसु	द डेट ऑफ वसुबन्धु : ए ग्रेट बुद्धिस्ट फिलॉसफर	इण्डियन स्टडीज	
१९५१	फ्राऊवाल्नर	ऑन द डेट ऑफ वसुबन्धु बुद्धिस्ट मास्टर ऑफ लॉ	सीरी ओरियण्टल, रोम	

१	२	३	४	
१९७३	हीराकावा	इण्डेक्स टू द अभिधर्मकोश	टोकियो	
१९७६	सुकोमल चौधरी	एनालिटीकल स्टडी ऑफ द अभिधर्मकोश	एट०के०प्राइवेट लि०	
१९८५	जैनी, पी०एस०	ऑन द थियोरी ऑफ वसुबन्धु	अफ्रिकन स्टडीज, लन्दन	
१९८६	एनेकर	सेवन वर्क्स ऑफ वसुबन्धु	मोतीलाल बनारसीदास	
१९८७	लालजी	बौद्धदर्शन की महान् विभूति वसुबन्धु	प्रज्ञा, काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय, पत्रिका	
१९८७	लाल जी	अभिधर्म के विकास में आचार्य वसुबन्धु और आचार्य बुद्धघोष का योगदान	काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की पी-एच.डी. उपाधि हेतु स्वीकृत शोध-प्रबन्ध (अप्रकाशित)	
१९९४	सीमा मुंशी	वसुबन्धु-प्रणीत-संस्कृत ग्रन्थों में समाहित परिभाषाएँ		

य. पञ्चस्कन्धप्रकरण : अनुवाद

सन्	लेखक	भाषा	प्रकाशकनाम	विशेष
१	२	३	४	५
५००	वसुबन्धु	संस्कृत	अज्ञात	मूल ग्रन्थ
	जिनमित्र दानशील ये-शेस-दे	तिब्बती	अज्ञात	अनुवाद
१९५५	शान्तिभिक्षु शास्त्री	संस्कृत	सरस्वती सुषमा, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय पत्रिका	अनुवाद
१९६९	शान्तिभिक्षु शास्त्री	अंग्रेजी	कोलम्बो एपेथिकेरीज कम्पनी, श्रीलंका	अनुवाद
१९८६	एनेकर	अंग्रेजी	मोतीलाल बनारसीदास	अनुवाद
१९९६	उमेश राय	पञ्चस्कन्धप्रकरण एवं त्रिस्वभावनिर्देश : सानुवाद अध्ययन	काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की पी-एच०डी० उपाधि हेतु स्वीकृत शोधप्रबन्ध (अप्रकाशित)	

र. मध्यान्तविभागभाष्य : अनुवाद

सन्	लेखक	भाषा	प्रकाशकनाम	विशेष
१	२	३	४	५
५००	वसुबन्धु	संस्कृत	अज्ञात	मूलग्रन्थ
५५७-५६९	परमार्थ	चीनी	अज्ञात	अनुवाद
	जिनमित्र			
	सुरेन्द्रबोधि येशेस-दे	तिब्बती	अज्ञात	अनुवाद
१९३२	विधुशेखर भट्टाचार्य और जी० टुची	संस्कृत तिब्बती	लुलाज एण्ड कम्पनी, लन्दन	अनुवाद
१९७१	रामचन्द्र पाण्डेय	संस्कृत	मोतीलाल बनारसीदास	अनुवाद
१९७८	श्चेकरवात्स्की	अंग्रेजी	मुन्शीराम मनोहरलाल	अनुवाद
१९८६	एनेकर	अंग्रेजी	मोतीलाल बनारसीदास	अनुवाद
१९९४	स्वामी द्वारिकादास शास्त्री	हिन्दी	चौखम्भा संस्कृत भवन वाराणसी	अनुवाद

ल. त्रिस्वभावनिर्देश : अनुवाद आदि

सन्	अनुवादक	भाषा	प्रकाशकनाम	विशेष
१	२	३	४	५
५००	वसुबन्धु	संस्कृत	अज्ञात	मूलग्रन्थ
	शान्तिभद्र गोस-लोस-च़	तिब्बती	अज्ञात	अनुवाद
१९३९	सुजितकुमार मुखोपाध्याय	संस्कृत, तिब्बती, अंग्रेजी	विश्वभारती बुक	अनुवाद
१९७२	छुबतन छोगडुब शास्त्री एवं रामशंकर त्रिपाठी	हिन्दी	सं०सं०विश्वविद्यालय, वाराणसी	अनुवाद
१९८६	एनेकर	अंग्रेजी	मोतीलाल बनारसीदास	सम्पादन व अनुवाद

ब. विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि : अनुवाद आदि

सन्	लेखक	भाषा	प्रकाशकनाम	विशेष
१	२	३	४	५
५००	वसुबन्धु	संस्कृत	अज्ञात	मूलग्रन्थ
५६३-५६७	परमार्थ	चीनी	अज्ञात	अनुवाद
६५१-६५३	शुआन्‌च्वांग जिनमित्र	चीनी	अज्ञात	अनुवाद
	सुरेन्द्रबोधि ये-शेस-दे	तिब्बती	अज्ञात	अनुवाद
१९२५	सिल्वालेवी	फ्रेंच	पेरिस	सम्पादन
१९३२	सिल्वालेवी	फ्रेंच		अनुवाद
१९३२	एच०जकोबी	जर्मन		अनुवाद
१९४०	सिल्वालेवी	जर्मन		सम्पादन
१९५२	डॉ० उई	जापानी		अनुवाद
१९५२	यामागुची	जापानी		अनुवाद
१९५६	फ्राउवाल्नर	जर्मन		अनुवाद

१	२	३	४	५
१९५७	शितांशुशेखर वाग्ची		नवनालंदा महाविहार	संपादन
१९६२	स्वामीमहेश्वरानन्द पुष्प	संस्कृत	गीताधर्म कार्यालय, मिश्रपोखरा, वाराणसी	अनुवाद
१९६७	महेश तिवारी	हिन्दी	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी	अनुवाद
१९७२	छुबतन छोग•शास्त्री तथा रामशंकर त्रिपाठी	हिन्दी	सं०सं०विश्वविद्यालय, वाराणसी	अनुवाद
१९८०	के०एन०चटर्जी	अंग्रेजी	किशोर विद्या निकेतन, वाराणसी	अनुवाद
१९८६	एनेकर	अंग्रेजी	मोतीलाल बनारसीदास	सम्पादन व अनुवाद
१९८३	वसुबन्धु तथा बर्कले का विज्ञानवाद (शोधलेख)		राधेश्यामधर द्विवेदी	अध्ययन

पञ्चम अध्याय

अभिधर्मकोश : वैशिष्ट्य एवं विषयवस्तु

१. अभिधर्मकोश का कलेवर

वसुबन्धु के ग्रन्थों में अभिधर्मकोश का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय का ग्रन्थ है। इसके आठ कोशस्थानों में प्रथम कोशस्थान का नाम ''धातु निर्देश'' रखा गया है। इसमें ४८ कारिकाएँ हैं। द्वितीय कोशस्थान का नांम ''इन्द्रियनिर्देश'' है, जिसमें ७३ कारिकाएँ हैं। लोकनिर्देश नामक तृतीयकोशस्थान में १०२ कारिकाएँ हैं। ''कर्मनिर्देश'' नामक चतुर्थ कोशस्थान में १२७ कारिकाएँ हैं। ''अनुशयनिर्देश'' नामक पञ्चम कोशस्थान में ७० कारिकाएँ हैं। षष्ठ कोशस्थान का नाम ''मार्गपुद्गलनिर्देश'' है, जिसमें ७९ कारिकाएँ हैं। ''ज्ञाननिर्देश'' नामक सप्तम कोशस्थान में ५६ कारिकाएँ हैं और ''समापत्तिनिर्देश'' नामक अष्टम कोशस्थान में ४३ कारिकाएँ हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर इस ग्रन्थ में ५९८ कारिकाएँ हैं। सर्वाधिक कारिकाएँ चतुर्थ कोशस्थान में और सबसे कम अष्टम कोशस्थान में हैं। इन समस्त कारिकाओं पर स्वयं लेखक ने सरल भाषा में भाष्य भी लिखा है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में ''पुद्गलविनिश्चय'' नामक परिशिष्ट भी जोड़ा गया है।

२. वैशिष्ट्य

अ. नाम की सार्थकता

बौद्ध दर्शन के इतिहास में ''अभिधर्म'' शब्द का विशेष महत्त्व है। इसी के स्वरूप-विवेचन के आधार पर आभिधार्मिक सम्प्रदाय का विकास हुआ। वसुबन्धु ने इस ग्रन्थ में इसका विस्तृत व्याख्यान किया है।

मल-रहित ज्ञान अपने अनुचरों के साथ अभिधर्म है। सम्यक् (निर्विकल्पक) ज्ञान की प्राप्ति के लिए जिस ज्ञान और जिस शास्त्र की आवश्यकता है, वह भी अभिधर्म है। अमला प्रज्ञा ही अनास्रव प्रज्ञा है। रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार यह पंचस्कन्ध उसका परिवार है। इसी को पारमार्थिक अभिधर्म कहते हैं।

सास्रव प्रज्ञा श्रुतिमयी, चिन्तामयी और भावनामयी है। सास्रवा प्रज्ञा से अनास्रवा प्रज्ञा को प्राप्त किया जाता है। इसलिए सास्रव प्रज्ञा एवं उस अनास्रवा प्रज्ञा का उपदेश देने वाले शास्त्र को भी अभिधर्मकोश कहते हैं।

धर्म-प्रविचय को प्रज्ञा कहते हैं। धर्म अर्थात् स्वलक्षण को धारण करने वाला अर्थात् निर्वाण। जिस कोश शास्त्र में अभिधर्म का विवेचन सुरक्षित है, उसे अभिधर्मकोश कहते हैं (अभिका०, १.२)।

ब. सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के इतिहास में स्थान

बौद्धमत के साहित्य के इतिहास में कोश शास्त्रों का स्थान और महत्त्व विशेष रूप से स्वीकार किया गया है। सर्वास्तिवाद अभिधर्मपिटक को अभिधर्मकोश व्यवस्थित और प्रामाणिक स्वरूप प्रदान करता है। यद्यपि सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय में वसुबन्धु से पूर्ववर्ती अनेक महत्त्वपूर्ण आचार्य हुए थे एवं अनेक ग्रन्थों का प्रणयन भी हो चुका था, परन्तु वे ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं। वसुबन्धु ने इन आचार्यों के सिद्धान्तों की रक्षा के लिए अथवा सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के प्रचार-प्रसार के लिए इस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्यों के सिद्धान्तों एवं ग्रन्थों का उल्लेख अभिधर्मकोश में यत्र-तत्र किया है।

वसुबन्धु ने इस ग्रन्थ में प्राचीन बौद्ध आचार्यों की तत्त्वमीमांसा, मनोविज्ञान, ब्रह्माण्ड अथवा विश्वनिर्माण की प्रक्रिया, विनय, कर्म का सिद्धान्त तथा मोक्ष का सिद्धान्त, रहस्यवाद, विशुद्धि तथा चेतना के सम्बन्ध में सभी बौद्ध सिद्धान्तों का संक्षिप्त किन्तु प्रामाणिक रूप प्रस्तुत किया है। अत: इस ग्रन्थ में ७५ धर्म (७२ संस्कृत और ३ असंस्कृत) प्रतिपादित हैं जो कि सर्वास्तिवाद में विशेषरूप से मान्य हैं। पाँच स्कन्ध (अभिका, अभिभा० १.५) द्वादश आयतन, अट्ठारह धातु, बाईस इन्द्रियाँ (अभिभा० १.४८) परमाणु का स्वभाव, विश्व की रचना और कारण, स्वर्ग, नरक, कर्म, दर्शन, ९८ अनुशय, १० प्रकार का ज्ञान और उनकी प्रवृत्ति, बुद्ध के गुण, बुद्ध व असामान्य तथा सामान्य मनुष्यों के साम्य-वैषम्य, विविध साधनाओं के फल, चार अप्रमाण, आठ विमोक्ष और आठ अभिभवायतन। इसमें वसुबन्धु ने एक विशेष परिशिष्ट भी जोड़ा है, जिसमें पुद्गल के सिद्धान्त का खण्डन किया गया है। समस्त बौद्धेतर दर्शन-सम्प्रदाय इसी पुद्गल-सम्प्रदाय में केन्द्रित हैं। इसके साथ ही वात्सीय पुत्र की भी चर्चा इसमें की गयी है। इस तरह उक्त सभी विषयों का वसुबन्धु ने इस ग्रन्थ में गम्भीर, स्पष्ट तथा सरल भाषा में प्रतिपादन किया है।

स. वसुबन्धु की अन्य रचनाओं में स्थान

वसुबन्धु ने अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थ, भाष्य एवं टीका-ग्रन्थ लिखे हैं, जो गद्य एवं पद्य शैली में हैं। किन्तु उनकी रचनाओं में इस ग्रन्थ का विशेष ही स्थान है। इस ग्रन्थ में ५९८ कारिकाओं का प्रतिपादन किया गया है, अतः यह एक बृहद् ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में वसुबन्धु ने बौद्धदर्शन के अनेक सम्प्रदायों, आचार्यों एवं उनके सिद्धान्तों व ग्रन्थों का उल्लेख किया है, जबकि अन्य किसी भी रचना में इस प्रकार का उल्लेख नहीं किया गया है। इस ग्रन्थ में लगभग पन्द्रह सौ पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख है।

द. अभिभा० में उल्लिखित सम्प्रदाय, आचार्य एवं ग्रन्थ

अभिधार्मिक : १.३८,४३; ३.३, २९, ३८, ८५; ४.३४: ५.५, १३,२२; ६.३, ६; ७.२७

काश्मीरवैभाषिक : ८.४०, १.३९, ४३; २.४४, ४५, ५१, ५४; ४.३०, ३१, ३९; ५.२०, ३५; ८.४०।

पाश्चात्य : २.४४।

महीशासक : ३.३८, १००।

योगाचार : ४.४।

वहिर्देशक : २.३०, ४४; ४.३०; ७.१२।

विभज्यवादी : ५.२५।

वैभाषिक : १.३, ७, ११, १३, २०; २.१, १०, ४१, ४४, ४५, ४६, ४७, ५५; ३.४, ७, २८, ३२, ३५, ४०, ४१, ६९; ४.१, ३, ४, ७, १२, २७, २९, ३२, ३६, ३९, ५०, ६५, ६८, ७५, ९६, ११२; ५.१, ६, ९, १२, २४, २५, २७, ७७; ६.५, १५, ३४, ४१, ४२, ५४, ५८, ६९, ७०; ७.२१, ३७।

वैशेषिक : २.४१।

सौत्रान्तिक : १.४२; २.४०, ४६, ५५, ६२; ३.३, ५, २८, ४०; ४.३, ४, २७, ३६; ५.१; ६.५८।

आचार्य

ग्रन्थ

३. प्रमुख प्रतिपाद्य

धर्म के लक्षण, प्रकार व प्रत्येक की परिभाषा एवं भेदोपभेद

धर्म— स्व लक्षण को धारण करने वाला धर्म है (१.२)।

धर्म के प्रकार— धर्म के दो भेद हैं—सास्रव और अनास्रव।

सास्रवधर्म— मार्ग सत्य को छोड़कर अन्य सभी संस्कृत धर्म सास्रव हैं (१.४)।

अनास्रवधर्म— मार्ग सत्य और त्रिविध असंस्कृत अनास्रव धर्म हैं। असंस्कृत अर्थात् आकाश, प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध।

आकाश— यह अनावरण स्वभाव का होता है। यह न किसी का आवरण करता है न किसी से आवृत होता है (१.५)।

प्रतिसंख्यानिरोध— अलग-अलग विसंयोग प्रतिसख्यानिरोध है। सास्रवधर्म का जो अलग-अलग ज्ञान प्राप्त होता है वह प्रतिसंख्यानिरोध है। जिस ज्ञान विशेष से दुःखादि आर्य सत्यों का निरोध होता है, वह प्रतिसंख्यानिरोध है (१.६)।

अप्रतिसंख्यानिरोध— उत्पाद में जो अत्यन्त विघ्नभूत है वह अन्य निरोध अर्थात् अप्रतिसंख्या निरोध है। उत्पन्न होने वाले धर्मों का जो अलग-अलग निवारण करन्ा है, जिसमें विशेष ज्ञान की आवश्यकता नहीं पड़ती वह अप्रतिसंख्या निरोध है।

संस्कृतधर्म— (१.७ से) एक साथ जो मिलकर अनेक कारणों से निर्मित होते हैं, वे संस्कृत हैं (१.७) यह संस्कृत धर्म बाद में पञ्चस्कन्ध (रूपस्कन्ध, वेदनास्कन्ध, संज्ञास्कन्ध, संस्कारस्कन्ध और विज्ञानस्कन्ध) है और वही संस्कृत धम अध्वकथावस्तु, निर्वाण और सवस्तुक कहे जाते हैं (१.७)।

इसके अतिरिक्त अन्य और संस्कृत धर्म के पर्याय का उल्लेख वसुबन्धु ने किया है— सरणा, दुःख, समुदय, लोक, दृष्टिस्थान और भव (१.८)।

सरणा— रण में दुःख होता है, इसमें अपना या दूसरों का आघात होता है, इसलिए सास्रव है।

दुःख— जो आर्यों के प्रतिकूल हैं।

समुदय— दुःख के कारण हैं।

लोक— जिसका होना प्रवृति है, वह लोक है।

दृष्टिस्थान— जो ठहरती है और प्रतिष्ठा-लाभ करती है।

भव— जिसका अस्तित्व है अथवा जो होता है वह भव है।

स्कन्ध की परिभाषा, पञ्चस्कन्ध प्रकार एवं भेदोपभेद

स्कन्ध का अर्थ राशि अथवा समुदाय है (१.२०)।

प्रकार— वसुबन्धु ने अभिधर्मकोशभाष्य में मुख्यरूप से स्कन्ध के पाँच भेद किये हैं—रूपस्कन्ध, वेदनास्कन्ध, संज्ञास्कन्ध, संस्कारस्कन्ध और विज्ञानस्कन्ध।

रूपस्कन्ध— अतीत अनागत या प्रत्युत्पन्न आध्यात्मिक या बाह्य, औदारिक या सूक्ष्म, हीन या प्रणीत, दूर या निकट- इन सबको एकत्र कर रूपस्कन्ध होता है। पाँच इन्द्रियाँ, पाँच अर्थ एवं अविज्ञप्ति रूपस्कन्ध है (१.९)।

रूप के दो भेद किये गये हैं—वर्ण और संस्थान। वर्ण चार प्रकार के हैं—नील, लोहित, पीत और औदात। संस्थान आठ प्रकार के हैं— दीर्घ, ह्रस्व, वृत, परिमण्डल, उन्नत, अवनत, सात और विसात।

अविज्ञप्ति— जब कोई व्यक्ति अज्ञानावस्था में विद्यमान रहता है और उस समय जो शुभ और अशुभ कर्म संस्कारों का उस अचितक व्यक्ति को कुछ ज्ञान नहीं होता, वह अविज्ञप्ति है (१.११)।

पृथ्वी— वर्ण और संस्थान (आकार) को लोक में पृथ्वी कहते हैं। जल, तेज, वायु, धातु भी वर्ण-संस्थान स्वरूप ही हैं।

वेदनास्कन्ध— अनुभव तीन प्रकार का है— सुख, दुःख और न सुख न दुःख। ये छह वेदनाकाय हैं—चक्षु, श्रोत्र, जिह्वा, घ्राण, काय और मनस्पर्श।

संज्ञास्कन्ध— निमित्त को ग्रहण करने वाला संज्ञास्कन्ध कहलाता है। वेदना के ही सदृश इसके भी छह प्रकार के प्रभेद होते हैं (१.१४)।

संस्कारस्कन्ध— चार स्कन्ध अर्थात् रूप, वेदना, संज्ञा और विज्ञान इन सबसे भिन्न संस्कार स्कन्ध है (१.१५)।

विज्ञानस्कन्ध— प्रत्येक विषय की उपलब्धि विज्ञानस्कन्ध कहलाती है। यह मन आयतन तथा सात धातुओं के रूप में भी जाना जाता है, परन्तु मन छह विज्ञानों से भिन्न होता है।

धातु की परिभाषा व प्रकार

धातु का अर्थ गोत्र है। वह संस्थान या पर्वत जहाँ लौह, ताम्र, रजत, सुवर्ण धातुओं के बहु गोत्र पाये जाते है, वह 'बहुधातुक' कहलाता है। इसी प्रकार से आश्रय या सन्तान में अट्ठारह प्रकार के गोत्र पाये जाते हैं, जो अट्ठारह धातु हैं (१.२०)।

प्रकार— धातु अट्ठारह प्रकार के बताये गये हैं—चक्षुधातु, श्रोत्रधातु, जिह्वाधातु, घ्राणधातु, कायधातु, मनधातु, रूपधातु, शब्दधातु, गन्धधातु, रसधातु, स्प्रष्टव्यधातु, धर्मधातु, चक्षुज्ञानधातु, श्रवणज्ञानधातु, घ्राणजज्ञानधातु, रसज्ञानधातु, स्पर्शज्ञानधातु, और मनोविज्ञानधातु।

आश्रय और आश्रित की दृष्टि से अट्ठारह धातुएँ हैं, लेकिन द्रव्यों की गणना से सत्रह धातुएँ हैं। पाँच इन्द्रियाँ, पाँच उनके विषय, एक धर्मायतन और छह विज्ञान।

इन सभी धर्मों का संग्रह एक ही रूपस्कन्ध में मन आयतन में और धर्मधातु में है (१.१८)।

छिद्र आकाश धातु है और इसी को आलोक और तम भी कहा गया है।

मनोविज्ञान जब सास्रव होता है, तब विज्ञानधातु है।

रूपधातु सनिदर्शन है। दश रूपी धातु सप्रतिघ हैं। शब्द को छोड़कर आठधातु अव्याकृत हैं (१.२९)।

कामधातु से सभी धातु सम्प्रयुक्त हैं। रूपधातु में गन्ध, रस, घ्राणविज्ञान और जिह्वाविज्ञान को छोड़कर चौदह होते हैं (१.३०)।

आरूप्य धातु में मनोधातु, धर्मधातु और मनोविज्ञान धातु होते हैं (१.३१)।

पाँच विज्ञानधातु हमेशा सवितर्क सविचार होते हैं। अन्य दश रूपी धातु चित्त से सम्प्रयुक्त होने के कारण अवितर्क अविचार होते हैं।

पाँच विज्ञानकाय हमेशा सवितर्क सविचार होते हैं और अविकल्प हैं, सर्व मानसी स्मृति, समाहित अथवा असमाहित अनुस्मरणविकल्प हैं (१.३३)।

सात अर्थात् चक्षुर्विज्ञानधातु, श्रोतृविज्ञानधातु, जिह्वाविज्ञानधातु, घ्राणविज्ञानधातु, कायविज्ञानधातु, मनोविज्ञानधातु और मनोधातु केवल सालम्बन हैं, क्योंकि ये सदा स्वविषय को ग्रहण करते हैं।

उपात शब्द का अर्थ है जिसे चित्त-चैत्त अधिष्ठानभाव से उपगृहीत और स्वीकृत करते हैं (१.३४)। अन्तिम तीन धातु अर्थात् मनोधातु, धर्मधातु और मनोविज्ञानधातु क्षणिक हैं (१.३७)।

रूप आदि को छोड़कर बारह आध्यात्मिक हैं। सर्वसंज्ञक धातु सभाग है। अन्य धातु तत्सभाग भी हैं। जब ये अपना कर्म नहीं करते तब तत्सभाग हैं (१.३९)।

इन्द्रियाँ

विज्ञान इन्द्रिय पाँच हैं— चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा व काय।

चक्षु आदि २२ इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रिय के विकार से ही विज्ञान में विकार होता है तथा तत्-तत् इन्द्रिय के नाम पर तत्-तत् विज्ञान का नाम निर्धारित है (१.४५)।

वेदना इन्द्रिय पाँच हैं—सुख, दुःख, सौमनस्य, दौर्मनस्य और उपेक्षा। इनका आधिपत्य संक्लेश में है। श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा इन पाँच इन्द्रियों के बल से क्लेशविष्कम्भन और आर्यमार्ग का आह्वान होता है। अन्तिम तीन इन्द्रियाँ अनास्रव हैं। निर्वाणादि के उत्तरोत्तर प्रतिलाभ में इनका आधिपत्य होता है (२.३)।

सत्व और द्रव्यसत्व के विकल्पादि के विषय में जिन धर्मों का अधिपति भाव होता है, वह इन्द्रिय माने जाते हैं (२.५)। कुछ आचार्य श्रद्धादि पंचक को एकान्त अनास्रव मानते हैं (२.९)। मन इन्द्रियाँ और चार वेदना इन्द्रियाँ अविपाक हैं, यदि वे कुशलक्लिष्ट होती हैं तो अव्याकृत या अनास्रव हैं (१.१०)।

इन्द्रिय व धातु का सम्बन्ध

चक्षु आदि अट्ठारह धातुओं[२] और चक्षु आदि छह विज्ञानों[३] में किस विज्ञान से किस धातु का सम्बन्ध है, इसका उल्लेख अभिका० एवं अभिभा० के १.४८ में किया गया है। १८ धातुओं में बारह आध्यात्मिक धातु और धर्मधातु का एक देश इन्द्रिय होता है। अभिधार्मिकों के अनुसार बाईस इन्द्रियों में से ११ अर्थात् जीवित इन्द्रिय, पाँच वेदना इन्द्रिय, पाँच श्रद्धादि इन्द्रिय और अन्तिम तीन का भाग धर्मधातु का एक देश है।

कामधातु में अमल इन्द्रियों का अभाव होता है (२.१२-१३)। रूपधातु में स्त्री, पुरुष, इन्द्रिय और दो दुःख वेदना (दुःखदौर्मनस्य) का अभाव होता

है। आरूप्यधातु में रूपी इन्द्रिय और दो सुखावेदना का अभाव होता है।

महाभूमिकाएँ

भूमि का अर्थ गति विषय अर्थात् उत्पत्ति विषय है, जो जिसका गतिविषय है, वह उस धर्म की भूमि है (२.२३)—

''भूमिर्नाम गतिविषय:। यो हि यस्य गतिविषय: स तस्य भूमि: इत्युच्यते''

चैत महाभूमिकादि भेद से पाँच प्रकार के हैं—महाभूमिका, कुशलमहाभूमिका, क्लेशमहाभूमिका, अकुशलमहाभूमिका और परीतक्लेशमहाभूमिका (२.२४-२७)।

महाभूमि—ये १० हैं। ये सर्व चित्त में विद्यमान हैं—वेदना, चेतना, संज्ञा, छन्द, स्पर्श, मूर्ति, स्मृति, मनस्कार, अधिमोक्ष और समाधि (२.२४)।

कुशल महाभूमि—अतिविस्तृत कुशल धर्मों की भूमि कुशलमहाभूमि कहलाती है। वे धर्म जो सर्वकुशल चित्त में पाये जाते हैं, वे कुशलमहाभूमिक हैं। ये दस प्रकार के हैं—श्रद्धा, अप्रमाद, प्रश्रब्धि, उपेक्षा, ह्री, अपत्रपा तथा दो कुशलमूल, अविहिंसा, वीर्य। ये केवल सर्व कुशल चित्त में होते हैं (२.२५)।

महाक्लेशभूमि—महाक्लेशधर्मों की भूमि को महाक्लेशभूमि कहते हैं तथा जो सर्व क्लिष्ट चित्त में होते हैं, वे क्लेशमहाभूमिक हैं। ये छ: प्रकार के होते हैं—मोह, प्रमाद, कौसीय, आश्रद्ध्य, स्त्यायन और उद्धति।

अकुशलमहाभूमिक—आह्रीक्य और अनपत्राप्य (२.२६) सदा अकुशल चित्त में पाये जाते हैं अत: इन्हें अकुशलमहाभूमिक कहते हैं।

परीतक्लेशमहाभूमिक—जो भावनाहेय अविद्यापात्र से ही सम्प्रयुक्त होते हैं, उन्हें परीतक्लेशभूमिक कहते हैं। ये दस प्रकार के होते हैं—क्रोध, उपनाह, शाठ्य, ईर्ष्या, प्रसाद, म्रक्ष, मत्सर, माया, मद, विहिंसा (२.२७)।

चैत्तों का नानात्व (२.२८-३४)

कुछ अनियत हैं तथा कभी कुशलचित्त, कभी अकुशलचित्त या अव्याकृतिचित्त में होते हैं। ये हैं—कौकृत्य, मिद्ध, वितर्क, विचार आदि।

२८ कुशलचित्त में सदा २२ चैतसिक होते हैं। दशमहाभूमिक, दशकुशलमहाभूमिक और दो अनियत अर्थात् - विर्तक और विचार। जब कुशलचित्त में कौकृत्य होता है, तब पूर्ण संख्या २३ हो जाती है (२.२८)।

आवेणिक और दृष्टियुक्त अकुशल चित्त में बीस चैत्त होते हैं। जब यह क्रोधादि चार क्लेशों में,से किसी एक से या कौकृत्य से सम्प्रयुक्त होते हैं, तब २१ होते हैं (२.२९)।

निवृताव्याकृत चित्त में १८ चैतसिक होते हैं। अनिवृताव्याकृत चित्त में १२ चैत्त होते हैं। अव्याकृत कौकृत्य से सम्प्रयुक्त अनिवृताव्याकृत चित्त में १३ चैत्त हैं (२.३०)।

विर्तक और विचार चित्त के औदार्य और सूक्ष्मता हैं। मान उन्नति है। इसके विपरीत स्वधर्मों में अनुरक्त पुद्गल के चित्त का पर्यादान मद है (२.३३)।

चित्त, मनस्, विज्ञान यह एक अर्थ के वाचक हैं। जो संचय करता है, वह चित्त है। यही मनस है, क्योंकि यह मनन करता है। यही विज्ञान है, क्योंकि यह अपने आलम्बन को जानता है। वह सालम्बन है, क्योंकि स्वविषय का ग्रहण करता है। वह साकार है, क्योंकि वह आलम्बन के प्रकार से आकार ग्रहण करता है। वह सम्प्रयुक्त है, क्योंकि वह अन्योन्य सम और अविप्रयुक्त है। सम और अविप्रयुक्त पाँच प्रकार से होते हैं—आश्रय, आलम्बन, आकार, काल और द्रव्य (२.३४)।

संस्कार

प्राप्ति, अप्राप्ति, सभागता, आसंज्ञिक दो समापत्ति, जीवितेन्द्रिय, लक्षण, नामकायादि और जातीयक धर्म चित्तविप्रयुक्त संस्कार हैं (२.३५)।

धर्म हेतु और धर्मप्रत्यय (२.६१-६२)

हेतु छः प्रकार के हैं—सहभूहेतु, सम्प्रयुक्तहेतु, सभागहेतु, सर्वत्रगहेतु, विपाकहेतु और कारणहेतु (२.७१)।

प्रत्यय चार प्रकार के होते हैं—हेतुप्रत्यय, समनन्तरप्रत्यय, आलम्बनप्रत्यय और अधिपतिप्रत्यय।

चित्तपरम्परा (२.६६-७१)

कामधातु में चार प्रकार के चित्त होते हैं। कुशल, अकुशल, निवृताव्याकृत और अनिवृताव्याकृत। दो ऊर्ध्व धातुओं में अकुशल को छोड़कर तीन प्रकार के चित्त होते हैं तथा दो अनास्रव चित्त अर्थात् शैक्षचित्त, अशैक्षचित्त या अर्हत् का चित्त। इस प्रकार कुल मिलाकर बारह चित्त हैं। इन बारह चित्तों की उत्पत्ति एक दूसरे के अनन्तर अनियत रूप से नहीं होती है (२.६६)।

धातु (३.१-३)

नरक, प्रेत, तिर्यक्, मनुष्य एवं छः देवनिकाय कामधातु हैं। छः देवनिकाय अर्थात् चतुर्महाराजिक, त्रायस्त्रिंश, याम, तुषित, निर्माणरति और परनिर्मितवशवर्ती हैं।

नरक और द्वीपों के भेद से कामधातु में बीस स्थान होते हैं (३.१)—

आठ नरक—संजीव, कालसूत्र, संघात, रौरव, महारौरव, तपन, प्रतापन और अवीचि।

चार द्वीप—जम्बुद्वीप, पूर्वविदेह, अवरगोदानीय और उत्तरकुरु।

६ पूर्वोक्त देवनिकाय और प्रेत तथा तिर्यक् भाजनलोक।

रूपधातु — ध्यान मुख्य रूप से चार प्रकार के हैं, इसके सत्र स्थान हैं।[१]

आरूप्यधातु—आरूप्यधातु में स्थान नहीं है, फिर भी उपपत्तिवश यह चार प्रकार का है— आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायन, आकिन्चन्यायतन और नैवसंज्ञानासंज्ञायतन या भवाग्र।

पाँच गतियाँ एवं उनकी योनियाँ (३.४-८)

धातुओं में पाँच गतियाँ— नारकीय, तिर्यक्, प्रेत, मनुष्य और देव होती हैं। ये अक्लिष्टाव्याकृत हैं। ये सत्वाख्य हैं, इनमें अन्तराभव संग्रहीत नहीं है(३.४)।

विज्ञानस्थितियाँ सात प्रकार की हैं- नानात्वकायसंज्ञ, नानाकार्यकसंज्ञी, विपर्यय, एककायसंज्ञ और तीन प्रकार के अरूपीसत्व। एक अन्य सूत्र के अनुसार- चार विज्ञानस्थितियाँ है- रूपोपगाविज्ञानस्थिति, वेदनोपगाविज्ञानस्थिति, संज्ञोपगाविज्ञानस्थिति और संस्कारोपगाविज्ञानस्थिति।

अण्डज आदि सत्वों की चार योनियाँ होती हैं-अण्डजयोनि, जरायुजयोनि, संस्वेदयोनि और उपपादुकयोनि।

प्रतीत्यसमुत्पाद एवं उसके प्रकार और क्लेशादि से उसका सम्बन्ध

"इ" धातु गत्यर्थक है, किन्तु उपसर्ग धातु के अर्थ को विपरिणत करता है, इसलिए "इ" का अर्थ है प्राप्ति। "प्रतीत्य" का अर्थ है- प्राप्त कर। पद धातु सत्तार्थक है। सम्, उत् उपसर्गपूर्वक इसका अर्थ प्रादुर्भाव है। अतः प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ "प्राप्त होकर प्रादुर्भाव" है (३.२८)।

अभिका एवं अभिभा (३.२० से २७) में प्रतीत्यसमुत्पाद के भेदों का विवेचन है। प्रतीत्यसमुत्पाद के बारह अंग और तीन काण्ड होते हैं। पूर्वकाण्ड एवं अपरान्त के दो-दो और मध्य के आठ अंग हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर प्रतीत्यसमुत्पाद के बारह अंग हैं (३.२०)। यथा-अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति और जरामरण।

जिस क्षण में क्लेश पर्यवस्थित पुद्गल प्राणातिपात करता है, उस क्षण में बारह अंग परिपूर्ण होते हैं। एक दूसरे मत के अनुसार यह द्वादशांग प्रतीत्यसमुत्पाद त्रिविध है— क्लेश, कर्म और वस्तु।

भाजनलोक, द्वीप, अन्तर्द्वीप आदि (३.४६-५९)

आकाश में प्रतिष्ठित वायुमण्डल की उत्पत्ति नीचे होती है। इसका वेधन १६ लक्ष्य योजन है।

सत्वों के कर्म के आधिपत्य से वायु मण्डल पर संचित अभ्र का पात होता है जिसका बिन्दु रथ की ईषा के बराबर होता है। इस जल का अब्मण्डल होता है। इस मण्डल का वेधन ११ लक्ष २० सहस्र योजन का होता है। अत: अब्मण्डल के ऊपर जिसका उच्छ्रय अष्टलक्ष योजन रह गया है, कांचनमयी भूमि होती है जिसका वेधन तीन लाख बीस सहस्र योजन है। जल और कांचन मण्डल तिर्यक् बारह लाख तीन हजार चार सौ पचास योजन है, समन्तत: इसका तिगुना है। मेरुयुगन्धर, ईषाधर, खदिरक, सुदर्शनगिरि, अश्वकर्ण, विनतक, निमिधगिरि हैं। उसके बाद द्वीप हैं। बारह चक्रवाड हैं।

कांचनमयी भूमि पर नव महापर्वत प्रतिष्ठित हैं। मध्य में मेरु है। मेरु के चारों ओर अन्य सात पर्वत चक्राकार हैं। निमिधर बाह्य नेमि है, जो मेरु और अभ्यन्तर के छ: भित्ति पर्वतों को परिक्षिप्त करता है। निमिधर के बारह द्वीप हैं। सब को परिक्षिप्त कर चक्रवाड है (३.५१)। इसे चक्रवाड इसलिए कहते हैं, क्योंकि यह चतुर्द्वीपक लोक धातु को परिमण्डलित करता है और उनको चक्र का आकार देता है।[१]

युगन्धर और छ: पर्वत सुवर्णमय हैं। चक्रवाड अयोमय है। मेरु चतूरत्नमय है। मेरु ८०००० योजन जल में मग्न है और ८०००० योजन जल से ऊर्ध्व है। अन्य आठ पर्वतों में अर्थ-अर्थ की हानि होती है। पर्वतों का उच्छ्राय और धन बराबर है। पर्वतों के अन्तराल में सात सीता है। इनमें से प्रथम ८०००० योजन है।

सात सीता आभ्यन्तरिक समुद्र हैं। शेष अर्थात् निमिन्धर और चक्रवाड के अन्तर में जो जल है, वह बाह्य महोदधि है। यह लवण जल से भरा है। इसका आयाम तीन लाख चालीस हजार योजन है। वहाँ जम्बू द्वीप है। इसके तीन पार्श्व २००० योजन के हैं। यह शकट की आकृति का है (३.५५)। गोदानीय ७५०० योजन मण्डलाकार है, तिर्यक् २५०० हैं, कुरु ८००० योजन है।

अन्तर द्वीपों की संख्या आठ है- देह, विदेह, कुरु, कौरव, चामर, अवरचामर, गाठ और उत्तरमन्त्री (३.५६)।

जम्बूद्वीप से बीस सहस्र योजन नीचे अवीचि नाम का महानरक है, जिसकी ऊँचाई और चौड़ाई २०००० योजन है। अत: इसका भूमितल जम्बूद्वीप के तल से ४०,००० योजन नीचे है। अवीचि के ऊर्ध्व प्रतापन, तपन, महारौरव रौरव, संघात, कालसूत्र और संजीव यह सात नरक एक दूसरे के ऊपर हैं। इन आठ नरकों में से प्रत्येक के सोलह उत्सद हैं। कुकूल, कुणप, क्षुरमार्ग या क्षुरधारमार्ग और वैतरणी- ये महानिरय के चारों द्वार पर पाये जाते हैं।

योजन आदि का प्रमाण

जम्बूद्वीप के निवासियों के शरीर का प्रमाण चार या साढ़े तीन हाथ होता है (३.७५)। पूर्वविदेह, अवरणोदानीयक और उत्तरकौरव के शरीर का प्रमाण यथा संख्या ८. १६, ३२ हाथ का होता है। चतुर्थमहाराजकायिकों का शरीर मात्र क्रोश का चतुर्थभाग होता है।

रूपधातु के पहले देव ब्रह्मकायिक के शरीर का प्रमाण अर्थ योजन है। ब्रह्मपुरोहितों का एक योजन, महाब्रह्मों का डेढ़ योजन और परीताभों का दो योजन है। परीताभों से ऊर्ध्व प्रमाण द्विगुण होता जाता है। पुण्य प्रसवों की संख्या २५० योजन होती है।

गोदानीय के मनुष्यों की आयु उत्तरकुरु के मनुष्यों की आयु की आधी है, अत: ५०० वर्ष की है। पूर्वविदेह के मनुष्यों की आयु २५० वर्ष की है। जम्बूद्वीप में आयु का प्रमाण नियत नहीं होता है, कभी अधिक और कभी कम होता है (३.७८)।

मनुष्यों के ५० वर्ष काम के अधर देवों का एक रात दिन होता है और इन देवों की आयु ५०० वर्ष की है। ऊर्ध्व देवों का रात-दिन और आयु दोगुना होती है (३.७९)।

उपायगतियों के आयु प्रमाण के सन्दर्भ में वसुबन्धु ने उल्लेख किया है कि संजीव, कालसूत्र, संघात, रौरव, महारौरव, तपन- इन छः नरकों का अहोरात्र यथाक्रम चातुर्महाराजकायिक आदि कामदेवों की आयु के तुल्य है। संजीव के उपाय सत्व का आयु प्रमाण चातुर्महाराजकायिकों के समान १२ मास के संवत्सर और तीस अहोरात्र के मास का ५०० वर्ष है, किन्तु इन अहोरात्रों में से प्रत्येक का प्रमाण चातुर्महाराजकायिक का सम्पूर्ण आयु प्रमाण है। यही योग कालसूत्र के उपाय और त्रायस्त्रिंशों में है (३.८२)।

प्रतापन में आयु का प्रमाण अर्थ अन्तर्कल्प है, अवीचि में एक अन्तर्कल्प है। तिर्यक् की आयु अधिक से अधिक एक कल्प की है। प्रेतों की आयु ५०० वर्ष की है, किन्तु इनके अहोरात्र का प्रमाण एक मास है।

उत्तरकुरु के मनुष्यों की आयु नियत है। वे १००० वर्ष तक अवश्य जीवित रहते हैं। इनका आयुप्रमाण पूरा होता है और अन्यत्र सब जगह अन्तरा मृत्यु होती है (३.८५)।

कर्म के प्रकार (४.१-५९)

कर्म के दो भेद हैं- चेतना और चेतयित्वा। ये दो कर्म मिलकर कर्म के तीन भेद हो जाते हैं- कायकर्म, वाक्कर्म और मानसकर्म। चेतना को मानस कर्म कहा गया है। इसी से कायकर्म और वाक्कर्म उत्पन्न होते हैं (४.१)।

कायिक और वाचिक ये दो कर्म विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति हैं।

विज्ञप्ति—यह वह है जो काय द्वारा याँ वाक् द्वारा चित्त की अभिव्यक्ति को ज्ञापित करती है। पहली अवस्था में यह कायिक है और दूसरी अवस्था में वाचिक।

कायविज्ञप्ति संस्थान है, गति नहीं : क्योंकि विनष्ट होने के कारण सभी संस्कृत क्षणिक हैं (४.२)।

वाक्विज्ञप्ति वाक्ध्वनि है। वागात्मकध्वनि अर्थात् वर्णनात्मक शब्द वाक्विज्ञप्ति हैं।

अविज्ञप्ति—जो दूसरे को ज्ञापित नहीं करती, वह अविज्ञप्ति है।

अविज्ञप्ति अनुपातिक, नैष्यन्दिक और सत्वाख्य है। पुनः अविज्ञप्ति दो प्रकार की है- कुशल और अकुशल। अविज्ञप्ति तीन हैं— संवर, असंवर और

नसंवर-नासंवर। संवर के तीन भेद हैं— प्रातिमोक्ष, ध्यानज और अनास्रव (४.१३)।

प्रातिमोक्षसंवर आठ प्रकार के हैं- भिक्षुसंवर, भिक्षुणीसंवर, शिक्षमाणासंवर, श्रामणेरसंवर, श्रामणेणीसंवर, उपासकसंवर, उपासिकासंवर और उपवारुसंवर। द्रव्यत: प्रातिमोक्षसंवर चार प्रकार के हैं- भिक्षुसंवर, श्रामणेरसंवर, उपवासकसंवर और उपवासस्थसंवर।

ध्यानसंवर और अनास्रव संवर यथाक्रम सास्रव और अनास्रव समाधि से उत्पन्न होते हैं। ये दोनों समान रूप से समाधिज कहलाते हैं।

असंवर दो कारणों से प्राप्त होता है, कर्म और आदान। असंवर-विनाशक तीन कारण हैं। संवरप्राप्ति, मृत्यु और उभयव्यञ्जनत्व।

नसंवरनासंवर विनाशक सात कारण हैं- प्रसादवेग, क्लेशवेग, समादानच्छेद, क्रियाच्छेद, अर्थच्छेद, आयुच्छेद और कुशलमूलच्छेद (४.४१)। अन्य कर्म अर्थात् चेतना और विज्ञप्ति कुशल, अकुशल और अव्याकृत हो सकते हैं (४.७)।

कुशलकर्म—निर्वाण को प्राप्त करने वाला, दु:ख से निवारण करने वाला क्षेम कर्म 'कुशल' है। क्षेमकर्म का प्रतिद्वन्द्वी भाव वाला अक्षेम कर्म 'अकुशल' है। इन दोनों से इतर न क्षेम न अक्षेम कर्म 'अव्याकृत' है।

पुन: तीन कर्म हैं, पुण्य, अपुण्य और आनिन्ज्य अर्थात् सुखवेदनीय, दु:खवेदनीय, नसुख न दु:खवेदनीय। कामधातु में शुभ कर्म होते हैं। रूपा अरूप्यावचर आनिन्ज्य हैं (४.४५)।

कृष्ण शुक्लादि भेद से कर्म चार होते हैं। जो कर्म कृष्ण है, वह कृष्ण विपाक है। जो शुक्ल कर्म है, वह शुक्लविपाक है। जो शुक्लकृष्ण कर्म है, वह शुक्लकृष्णविपाक है। न कृष्ण न शुक्ल कर्म अकृष्ण अशुक्लविपाक है (४.५९)।

कर्मपथ (४.६६-७३)

कर्मपथ दस हैं, जो कुशल और अकुशल होते हैं। कुशल कर्मपथ सुचरितों में होते हैं और अकुशल कर्मपथ दुश्चरितों में पाये जाते हैं। अकुशल कर्मपथ तीन प्रकार के हैं— कायदुश्चरित, वागदुश्चरित और मनोदुश्चरित। कुशल कर्मपथ भी तीन प्रकार के हैं— कायसुचरित, वाक्सुचरित और मन: सुचरित।

अकुशल ६ कर्मपथ अविज्ञप्ति स्वभाव के होते हैं। प्राणातिपात, अदत्तादान, मृषावाद, पैशुन्य, पारुष्य और भिन्नप्रलाप। जो इन इन कर्मों को सम्पादित करता है, उसमें मौलि विज्ञप्ति अर्थात् प्राणातिपातकर्म नहीं होता। एक अकुशल अर्थात् काममिथ्याचार सदा विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति होता है (४.६६)।

इन छः कर्मपथों को कोई स्वयं सम्पादित करता है तो वे विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति दोनों होते हैं। सात कुशल दो प्रकार के होते हैं— विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति।

समाधिज कर्मपथ केवल अविज्ञप्ति है। ध्यानसंवर और अनास्रवसंवर में संग्रहीत कर्मपथ समाधिज कहलाता है।

कर्मफल (४.८५-९१)

समस्त कर्मपथ तीन फल देने वाले होते हैं— विपाकफल, निष्यन्दफल और अधिपतिफल।

विपाकफल— प्रत्येक कुशलकर्मपथ जो असेवित, अवद्यकारी नरक में प्रतिसन्धि ग्रहण करते हैं, वे विपाकफल हैं।

निष्यन्दफल— यदि अवद्यकारी मनुष्य गति में जन्म लेता है तो प्राणातिपात से अल्पायु होता है। अदत्तादान से भोग व्यसनी होता है। काममिथ्याचार से उसकी पत्नी पतिव्रता नहीं होती। पैशुन्य से उसके पुत्र शत्रु हो जाते हैं। पारुष्य से वह केवल अमनोज्ञ बातें सुनता है। सम्भिन्नप्रलाप से उसके वचन का कोई विश्वास नहीं करता। व्यापाद से वह अत्यन्त द्वेष वाला होता है। मिथ्यादृष्टि से उसको अत्यन्त मोह होता है। यह निष्यन्दफल है।

अधिपतिफल— प्राणातिपात के अभीक्ष्ण असेवन से औषधि, भूमि आदि **बाह्य** भाव अल्पवीर्य होते हैं। अदत्तादान के कारण वह शिलावृष्टि, धूलवृष्टि, क्षारवृष्टि से अभिभूत होते हैं। काममिथ्याचार के कारण वह धूलि या क्षार से अवकीर्ण होते हैं। पैशुन्य के कारण उच्च निम्न होते हैं। पारुष्य के कारण बाह्य भाव ऊसर जंगल हो जाते हैं। अविद्या के कारण फल अल्प होते हैं। व्यापाद से फल क्षार युक्त होते हैं। मिथ्यादृष्टि के कारण फल कम होते हैं या उनका अभाव होता है। यह अधिपतिफल है (४.८५)।

प्रहाणमार्ग में सास्रव कर्म के पाँच फल होते हैं। प्रहाण मार्ग दो प्रकार का है — सास्रव और अनास्रव। जो कर्म **सास्रव आनन्तर्य** मार्ग में संग्रहीत

हैं, उनके पाँच फल होते हैं। विपाकफल, निष्यन्दफल, विसंयोगफल, पुरुषाकारफल, अधिपतिफल (४.८७)।

अनास्रव कर्म का शेष अर्थात् प्रहाणमार्ग में संग्रहीत किन्तु प्रयोग विमुक्ति विशेष मार्गों में संग्रहीत अनास्रव कर्म का विसंयोगफल नहीं होता है। इसमें विपाक फल भी नहीं होता है, क्योंकि यह अनास्रव है। अव्याकृत कर्म भी निवृत्ति हो या अनिवृताव्याकृत— इन दो फलों से रहित होता है।

अनुशय का लक्षण, प्रकार एवं प्रत्येक का स्वरूप

लोक वैचित्र्य कर्मज हैं। यह कर्म अनुशयवश उपचित होते हैं। अनुशयों के अभाव में कर्म पुनर्भव के अभिनिवर्तन में समर्थ नहीं होते, अतः भव का मूल अर्थात् पुनर्भव या कर्म भव का मूल अनुशय है (५.१)।

अनुशय छः हैं, किन्तु राग भेद से सात हो जाते हैं— कामरागानुशय, प्रतिघानुशय, भवरागानुशय, मानानुशय, अविद्यानुशय, दृष्टयानुशय और विचिकित्सानुशय या विमति (५.१)।

राग दो प्रकार के हैं— कामराग और भवराग।

कामरागानुशय— इस पर विद्वानों में मतभेद है, किन्तु अभिधर्म का निर्देश है कि कामरागानुशय तीन इन्द्रियों (सुप्त, सौमनस्य और उपेक्ष) से सम्प्रयुक्त है। वैभाषिकों के अनुसार कामरागानुशय कामरागनामक अनुशय है। इन्होंने राग को ही अनुशय माना है, किन्तु पाँच रूपी इन्द्रियों के रूपशब्दादि आलम्बनों में राग रखना कामराग है।

भवराग— रूपधातु और आरूप्यधातु के प्रति जो राग होता है, वह भवराग है।

अभिधर्मशास्त्र के अनुसार ये ही छः अनुशय दश होते हैं। पाँच दृष्टि अर्थात् सत्कायदृष्टि, मिथ्यादृष्टि, अन्तर्ग्राह्यदृष्टि, परामर्शदृष्टि और शीलव्रतपरामर्श। इस प्रकार अनुशय दश होते हैं। इनमें से पाँच वह हैं जो दृष्टि-स्वभाव नहीं है। यथा—

राग, प्रतिघ, मान, अविद्या और विचिकित्सा (५.३)।

अभिधर्मशास्त्र के अनुसार ये दश अनुशय ही ९८ हो जाते हैं—

कामधातु के ३६ अनुशय, रूपधातु के ३१ अनुशय और आरूप्यधातु

के ३१।

अनुशयों में आलम्बन आदि (५.१४-१८)—

मिथ्यादृष्टि, विचिकित्सा, इनसे युक्त अविद्या और केवला विद्या, निरोधमार्ग दर्शनहेय, ये छ: अनुशय अनास्रव हैं (५.१४)। मिथ्यादृष्टि, विचिकित्सा, सम्प्रयुक्त अविद्या या आवेणिकी अविद्या ये तीन मार्ग प्रहातव्य हैं। शेष आलम्बन अनुशय अर्थात् सास्रव धर्म हैं।

राग का आलम्बन अनास्रव नहीं है, क्योंकि अनास्रव वर्ज्य हैं। अनास्रव अपकार नहीं करता, इसलिए प्रतिघ नहीं हैं। अनास्रव शान्त, शुद्ध और उत्तम होने के कारण मान और दो परामर्श भी नहीं है (५.१६)।

सर्वत्रग अनुशय आलम्बनत: स्वभूमि में अनुशयन करते हैं। असर्वत्रग स्वनिकाय में अनुशयन करते हैं। ऊर्ध्व विषय अनास्रव नहीं हैं। छ: अनुशय, जिनका विषय अनास्रव है, निर्वाण या मार्ग हैं। नव अनुशय जिनका विषय ऊर्ध्वभूमि है स्वालम्बन में अनुशयन नहीं करते हैं, क्योंकि वे इस वस्तु को आत्मदृष्टि या तृष्णा से स्वीकृत नहीं करते। वे जिस वस्तु को सत्कायदृष्टि से आत्मवत् अवधारित करते हैं या जिसे तृष्णा से स्वीकृत करते हैं, उस वस्तु में अन्य अनुशय अभिव्यक्त होते हैं अथवा वहाँ अनुशयन करते हैं (५.१७)।

अनास्रव या ऊर्ध्वभूमि के प्रति प्रार्थना, तृष्णा नाम का अनुशयन नहीं है, किन्तु कुशल धर्मच्छन्द है। पुन; अनास्रव निर्वाण या मार्ग उन क्लेशों का प्रतिपक्ष है, जो उसको आलम्बन बनाते हैं। जो अनुशय जिस धर्म से सम्प्रयुक्त हैं, वे उस धर्म के सम्प्रयोग से अनुशयन करते हैं। यहाँ धर्म का अर्थ वेदनादि है।

अनुशयों की मनोभूमिकाएँ (५.५४-५८)—

क्लेश, मान, मिंद्ध और स्वतन्त्र उपक्लेश मनोविज्ञानभूमिक हैं। अन्य का आश्रय षड्विज्ञान है। भावनाहेय— राग, प्रतिघ, अविद्या, इससे सम्प्रयुक्त उपक्लेश अपत्राप्य, स्त्यान, औद्धत्य और वह क्लेश जो मनोभूमिकाओं में कहे गये हैं (५.५४)।

सुख, सौमनस्य इन्द्रियों से सम्प्रयुक्त राग है। दु:ख इन्द्रिय और सौमनस्य इन्द्रिय से सम्प्रयुक्त प्रतिघ है। ये दोनों अर्थात् राग और द्वेष षड् विज्ञानभूमिक हैं।

सर्वक्लेशों से सम्प्रयुक्त होने से अविद्या पाँच वेदनाओं से सम्प्रयुक्त है। पुण्यकर्म एवं पाप कर्म करने वालों में मिथ्यादृष्टि क्रमशः दौर्मनस्य एवं सौमनस्य के साथ सम्प्रयुक्त होती है।

ये सब अनुशय 'उपेक्षा इन्द्रिय' से सम्प्रयुक्त हैं।

ऊर्ध्वभूमिक क्लेशों के सम्बन्ध में वसुबन्धु का कथन है कि— ऊर्ध्वभूमिक अनुशय भूमिस्वेन्द्रिय से सम्प्रयुक्त होते हैं। जिस भूमि में जितनी इन्द्रियाँ होती हैं, उतनी स्वेन्द्रियाँ ऊर्ध्वभूमिक अनुशय सम्प्रयुक्त होती हैं (५.५६)।

पुनः वसुबन्धु ने उपक्लेशों का उल्लेख किया है कि— कौकृत्य, ईर्ष्या, क्रोध, विहिंसा, उपनाह और प्रसाद यह उपक्लेश दौर्मनस्य इन्द्रियों से सम्प्रयुक्त हैं। विपर्यय के साथ मात्सर्य, सौमनस्य इन्द्रिय से सम्प्रयुक्त है।

शाठ्य, माया, म्रक्ष और मिद्ध उभय सम्प्रयुक्त हैं। दो सुख-इन्द्रियों के साथ मद होता है। तृतीय ध्यान में मद सुखेन्द्रिय से सम्प्रयुक्त होता है। अवरध्यानों में सौमनस्य इन्द्रिय से सम्प्रयुक्त होता है। ऊर्ध्व में उपेक्षाइन्द्रिय से सम्प्रयुक्त होता है, अतः 'उपेक्षा' सर्वग है। इससे सब सम्प्रयुक्त होते हैं (५.५८)।

अनुशयों के प्रहाण-प्रकार (५.६०)

आलम्बन परिज्ञान से दुःख समुदय, स्वभूम्यालम्बन क्लेश और निरोध मार्ग दर्शनहेय क्लेश प्रहीण होते हैं।

प्रतिपक्ष चार प्रकार के हैं— प्रहाण, आधार, दूरीभाव और विदूषण। प्रतिपक्ष का फल प्रहाण है।

आनन्तर्य मार्ग प्रहाण प्रतिपक्ष है। पूर्व से जो पर है, अर्थात् विमुक्तिमार्ग आधार प्रतिपक्ष है। विमुक्तिमार्ग के परे जो मार्ग है, वह दूरीभाव प्रतिपक्ष है। वह मार्ग जिससे धातु का दोषतः दर्शन होने से धातु विदूषण होता है, वह विदूषण प्रतिपक्ष है।

विदूषणप्रतिपक्ष - प्रयोगमार्ग

प्रहाणप्रतिपक्ष - वियुक्तिमार्ग

आधारप्रतिपक्ष - विमुक्तिमार्ग

दूरीभावप्रतिपक्ष - विशेषमार्ग।

भावना प्रकार (६.१)

दर्शनमार्ग अनास्रव है तथा भावना मार्ग दो प्रकार का है— लौकिक या सास्रव, लोकोत्तर या अनास्रव। दर्शनमार्ग त्रैधातुक क्लेश का प्रतिपक्ष है। यह नौ प्रकार के अधिमात्र-अधिमात्र, मृदु-मृदु, इत्यादि दर्शनहेय क्लेशों का सकृत् प्रहाण करता है। इस प्रकार की शक्ति लौकिक मार्ग में नहीं होती है (६.१)।

सत्य के चार प्रकार हैं— दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग (६.२)। अनास्रव मार्गसत्य है। प्रतिसंख्यानिरोध विसंयोग है। इससे निरोधसत्य को प्रज्ञप्त किया गया है (६.२)।

दुःखता तीन प्रकार की है— 'दुःख-दुःखता', 'संस्कारदुःखता' और 'परिणामदुःखता'। इन तीन दुःखताओं के कारण सब सास्रव संस्कृत अविशेष्यतः दुःख है। मनाप भी परिणाम दुःखता के कारण दुःख है। अमनाप भी दुःखदुःखता के कारण दुःख है और जो न मनाप है, न अमनाप वह संस्कार दुःखता के कारण दुःख है (६.३)।

घट, जल और इसके सदृश जितने भी पदार्थ हैं, वे सभी संवृति सत्य हैं और इससे भिन्न जो अन्य पदार्थ हैं, वे सभी परमार्थ सत्य हैं (६.४)।

वृतस्थ श्रुतवान् भावना में प्रयुक्त है (६.५)। श्रुतादिमयी प्रज्ञा के गोचर यथाक्रम नाम-नाम और अर्थ-अर्थ हैं। वैभाषिकों के अनुसार— श्रुतमयी प्रज्ञा का विषय 'नाम' है। चिन्तामयी प्रज्ञा का विषय 'नाम और अर्थ' है तथा भावनामयी प्रज्ञा का विषय 'अर्थ' है।

भूमि में गुण एवं दोष (६.३३-३६)

प्रत्येक भूमि में नौ प्रकार के दोष होते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक भूमि में नौ प्रकार के गुण भी होते हैं, जो उतने ही आनन्तर्य और विमुक्ति मार्ग हैं एवं दोषों के प्रतिपक्ष होते हैं। यह मूलतः तीन प्रकार के होते हैं— मृदु, मध्य, अधिमात्र। इन तीनों में भेद होने के कारण कुल मिलाकर नौ प्रकार के हो जाते हैं (६.३३)। यथा—

मृदु-मृदु, मृदु-मध्य, मृदु-अधिमात्र, मध्य-मृदु, मध्यमध्य, मध्य-अधिमात्र, अधिमात्र मृदु, अधिमात्र मध्य, अधिमात्र-अधिमात्र।

मृदु-मृदु मार्ग, अधिमात्र अधिमात्र क्लेश के प्रहाण करने में समर्थ है। इसी प्रकार यावत् अधिमात्र-अधिमात्र मार्ग मृदु-मृदु क्लेश के प्रहाण में

समर्थ हैं।

भावनाहेय क्लेशों के नौ प्रकार हैं। फलस्थ जिसके भावनाहेय अक्षीण है, वह सप्तकृत परम है। जिस फलस्थ ने भावनाहेय क्लेशों के एक प्रकार का भी प्रहाण नहीं किया है, वह स्रोत आपन्न है। क्योंकि उसका अधिक से अधिक सात बार जन्म हो सकता है। तीन या चार प्रकार से विमुक्त जिसके दो या तीन जन्म और होंगे कुलंकुल है (६.३४)।

कुलंकुल दो प्रकार का है देव कुलंकुल और मनुष्य कुलंकुल।

जो देवों के दो या तीन कुलों में संसरण कर उसी देवनिकाय में या अन्यत्र परिनिवृत्त होता है, वह देव कुलंकुल है। मनुष्य कुलंकुल वह आर्य है जो मनुष्यों में दो या तीन कुलों में संसरण कर इस द्वीप या किसी अन्य द्वीप में परिनिवृत्त होता है। जिस फलस्थ ने पाँच प्रकार के क्लेश का प्रहाण किया है, वह द्वितीय फल में प्रतिपन्नक है। छठें प्रकार का क्षय कर यह सकृदागामी है। सात या आठ दोषांश का क्षय कर एक जन्म एक वीचिक है। यह तृतीय फल में प्रतिपन्न भी है। यह फलस्थ कामावचर क्लेश के नवें प्रकार मृदु-मृदु क्लेश प्रहाण से अनागामी होता है, क्योंकि उसकी कामधातु में पुनः उत्पत्ति नहीं होगी (६.३६)।

शैक्ष-अशैक्ष लक्षण एवं उनके धर्म

अर्हत् आर्य अशैक्ष होता है (६.४५)। अर्हत् में प्रतिपन्नक अशैक्षक अर्हत् फल का लाभ करता है, उसे किसी अन्य फल के लिए शिक्षा प्राप्त नहीं करनी पड़ती है, अतः यह अशैक्ष है। अतएव स्वार्थ की परिसमाप्ति कर वह परार्थ के योग्य होता है। वह सब सराग सत्वों की पूजा के योग्य ही है, क्योंकि अर्हत् को अशैक्ष कहते हैं। इसलिए यह सिद्ध होता है कि सात पुद्गल चार प्रतिपन्नक और तीन फलस्थ शैक्ष हैं। क्योंकि यह क्षय के लिए जिन तीन शिक्षाओं को ग्रहण करते हैं, वे तीन शिक्षाएँ—अधिशील शिक्षा, अधिचित्त शिक्षा और अतिप्रज्ञशिक्षा। शील, समाधि ये प्रज्ञा स्वभाव के हैं। भगवान् का कथन है — "हे शीवक। जिसमें उसे शिक्षित होना चाहिए, उसमें यदि वह शिक्षित होता है तो उसे ही मैं शैक्ष कहता हूँ।"

शैक्ष के अनास्रव संस्कृत धर्म भी शैक्ष हैं। इसी प्रकार अशैक्ष के अनास्रव संस्कृत धर्म अशैक्ष हैं। असंस्कृत निर्वाण शैक्ष नहीं है, क्योंकि अशैक्ष और पृथग्जन का उससे योग है। निर्वाण अशैक्ष नहीं है क्योंकि शैक्ष और पृथग्जन से उसका योग है।

अर्हत् के प्रकार एवं गोत्र (६.५६-५८)

अर्हत् ६ प्रकार के हैं— परिहाणधर्मन्, चेतनाधर्मन्, अनुरक्षणाधर्मन्, स्थिताकम्प्य, प्रतिवेदनाधर्मन् और अकोप्यधर्मन्। इनमें से अकोप्य को छोड़कर पाँच श्रद्धादिमुक्त से उत्पन्न होते हैं। इनकी विमुक्ति सामयिकी है (६.५६)।

कुछ अर्हत् प्रारम्भ से उस गोत्र के होते हैं जिस गोत्र के वह आर्य हैं, कुछ तप या पूर्णता से।

१. **परिहाणधर्मा** वह अर्हत् है जो परिहाण के लिए भव्य और जो न चेतना धर्म है और न प्रतिवेधनाधर्म।

२. **चेतनाधर्मा** वह अर्हत् है, जो अनुरक्षणधर्मादि हुए बिना अपने मारण के लिए भव्य है।

३. **अनुरक्षणाधर्मा** वह अर्हत् है जो अनुरक्षण के लिए भव्य है।

४. **स्थिताकम्प्य** वह अर्हत् है जो बलवत् परिहाणि प्रत्यय के अभाव में बिना अनुरक्षण के ही फल में स्थित होने से भव्य है।

५. **प्रतिवेधनाधर्मा** वह अर्हत् है, जो बिना अभियोग के अकोप्यधर्मा में प्रतिषेध करने से भव्य है।

६. **अकोप्यधर्मा** वह अर्हत् है, जो परिहाणि के भव्य नहीं है।

परिहाणधर्मा स्वगोत्र से परिहीण नहीं होता, किन्तु पूर्व गोत्र और पूर्व फल की परिहाणि नहीं होतीं। अर्हत् पूर्व गोत्र से अर्थात् अर्हत् होने से पहले प्राप्त गोत्र से परिहीण नहीं होता। क्योंकि वह गोत्र शैक्ष, अशैक्ष मार्ग से दृढ़ीकृत है। शैक्ष अपने पूर्व गोत्र से परिहीण नहीं होता। क्योंकि यह गोत्र लौकिक और लोकोत्तर मार्ग से दृढ़ किया गया है। किन्तु यह उतापनागत गोत्र से परिहीण होता है (६.५८)।

शैक्ष और अनार्य के भी छः गोत्र है। शैक्ष और पृथग्जन के भी इसी प्रकार छः गोत्र हैं। ये गोत्र अर्हत् के गोत्र के पूर्वक हैं। परिहाणि तीन प्रकार की मानी जाती है— प्राप्त की, अप्राप्त की और उपभोग की।

पुद्गल और उसके प्रकार (६.६२-६३)

इन्द्रिय भेद से अर्हत् की संख्या ९ है— दो बुद्ध और सात श्रावक अर्थात् परिहाणधर्मादि पाँच और दो अकोप्यधर्मा जो एक आदितः अकोप्यगोत्र हैं तथा

दूसरा जिसने इन्द्रिय संचार से इनका लाभ लिया है। दो बुद्ध अर्थात् प्रत्येक बुद्ध और बुद्ध अकोप्यधर्मा के प्रकार हैं। इस प्रकार ९ पुद्गल हैं, जिनकी इन्द्रियाँ यथाक्रम मृदुमृदु आदि हैं। सामान्यत: आर्य सात हैं— श्रद्धानुसारी, धर्मानुसारी, श्रद्धाधिमुक्त, दृष्टिप्राप्त, कायसाक्षी, प्रज्ञाविमुक्त, उभयतोभागविमुक्त (६.६२)।

प्रयोग, इन्द्रिय, समापति, विमुक्ति और उभयवश सात पुद्गल हैं।

प्रयोगवश श्रद्धानुसारी और धर्मानुसारी। **इन्द्रियवश** श्रद्धाविमुक्त और दृष्टिप्राप्त। प्रथम में श्रद्धाधिमोक्ष के आधिक्य से और द्वितीय में प्रज्ञा के आधिक्य से उनकी इन्द्रियाँ यथाक्रम मृदु और तीक्ष्ण होती हैं।

समापत्तिवश— कायसाक्षी क्योंकि उसने निरोध समापत्ति का सम्मुखीभाव किया है।

विमुक्तिवश— प्रज्ञाविमुक्त।

समापत्ति और **विमुक्तिवश** उभयतोभाग विमुक्त। अत: संख्या की दृष्टि से सात हैं, किन्तु द्रव्यत: छ: हैं। तीन मार्गों में से प्रत्येक में दो पुद्गल होते हैं। दर्शनमार्ग में दो श्रद्धानुसारी और धर्मानुसारी। यही भावना मार्ग में श्रद्धाधिमुक्त और दृष्टिप्राप्त हो जाते हैं और अशैक्षमार्ग में समयविमुक्त और असमयविमुक्त हो जाते हैं (६.६३)।

श्रद्धानुसारी इन्द्रिय तीन प्रकार की हैं। यद्यपि श्रद्धानुसारी की सब इन्द्रियाँ मृदु हैं, तथापि इनके मृदु-मृदु, मृदु-मध्य, मृदु-अधिमात्र— तीन भेद हैं। यह गोत्रत: पाँच प्रकार का है। मार्गत: १५ प्रकार का है आठ क्षान्तिस्थ और सात ज्ञानस्थ। वैराग्यत: ७३ प्रकार का है। आश्रयत: नौ प्रकार का है। इन्द्रिय गोत्र-मार्ग-वैराग्य-आश्रयभेद की पिण्डितकर श्रद्धानुसारी के १४७८२५ प्रकार होते हैं।

विमुक्ति के प्रकार

विमुक्ति के दो भेद हैं— संस्कृत और असंस्कृत (६.७६)। क्लेशों का प्रहाण असंस्कृत विमुक्ति है और अधिमोक्ष संस्कृत विमुक्ति। संस्कृत विमुक्ति को अशैक्ष का अंग कहा गया है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि आदि अङ्ग संस्कृत हैं। संस्कृतविमुक्ति को सूत्र में द्विविध कहा गया है चेतोविमुक्ति और प्रज्ञाविमुक्ति। रागविराग से चेतोविमुक्ति और विद्याविराग से प्रज्ञाविमुक्ति। यही विमुक्ति स्कन्ध भी है (६.७६)।

असंस्कृत विमुक्ति को धातुत्रय कहा गया है। राग का प्रहाण विरागधातु है। क्लेश-प्रहाण को छोड़कर सास्रव रूपादि वस्तु का प्रहाण निरोधधातु है (६.७८)।

ज्ञान का स्वरूप, प्रकार एवं आकार

अग्रधर्म वाले लैकिकों से, बाद में आने वाली, अनास्रवधर्मक्षान्ति उत्पन्न होती है (६.२५)। इसके बाद धर्मज्ञान उत्पन्न होता है। धर्मज्ञान क्षान्ति का आलम्बन कामावचर दु:ख है तथा उसी दु:ख में धर्मज्ञान उत्पन्न होता है। धर्मज्ञान की उत्पत्ति के बाद शेष बचे रूप और आप्यावचर दु:ख में समस्त आलम्बनों के अन्वयज्ञान वाली क्षान्ति उत्पन्न होती है। इसी को दु:ख में उत्पन्न होने वाली अन्वयज्ञान क्षान्ति कहा जाता है। इसी से अन्वयज्ञान उत्पन्न होता है। अत: कुल मिलाकर विभाजन है— क्षान्तिज्ञान, सम्यक्दृष्टि और सम्यक्ज्ञान।

क्षान्तियाँ ज्ञान नहीं हैं और सम्यक्ज्ञान को सम्यक्दृष्टि नहीं कहा जा सकता। इसी बिन्दु को स्पष्ट करते हुए यशोमित्र कहते हैं कि सास्रव क्षान्तियाँ ज्ञान होती हैं, किन्तु अनास्रव अथवा अमल क्षान्तियाँ ज्ञान नहीं होती। इसी को संवृत्तिज्ञान अथवा व्यावहारिक अथवा संवृतिसत्य कहते हैं। क्योंकि ज्ञान के स्वरूप में निश्चितता होती है और क्षान्ति का स्वरूप निश्चयात्मक नहीं है। क्षान्तियाँ अनिश्चयात्मक होती हैं, इसलिए वे ज्ञान नहीं हैं।

ज्ञान दो प्रकार का है (७.२)— सास्रवज्ञान और अनास्रवज्ञान। सास्रवज्ञान संवृतिज्ञान और व्यावहारिक ज्ञान है, क्योंकि घट, पट, स्त्री, पुरुष आदि को संवृति सत्य के रूप में स्वीकार किया जाता है। कुछ लोगों की मान्यता है कि— इस ज्ञान को अज्ञान से घिरा होने के कारण संवृतिज्ञान कहा जाता है।

अनास्रवज्ञान पुन: दो प्रकार का होता है— धर्मज्ञान और उससे भिन्न अन्वयज्ञान। वे दोनों ज्ञान पुन: तीन विभागों में विभक्त किये जाते हैं—संवृतिज्ञान, धर्मज्ञान और अन्वयज्ञान। संवृतिज्ञान को यह नाम इसलिए दिया गया है कि इस ज्ञान के आलम्बन संस्कृत और असंस्कृत सभी धर्म होते हैं। धर्मज्ञान नामक ज्ञान का दु:ख कामावचर है और दु:ख समुदय उसका निरोधरूप प्रतिपक्ष उसका आलम्बन है। अन्वयज्ञान का दु:ख, रूप और आरूप्यावचर है तथा उसका समुदय निरोध और उसका प्रतिपक्ष आलम्बन (७.३) है।

धर्मज्ञान और अन्वय ज्ञान को चार ज्ञान कह सकते हैं। इस विभाजन

का आधार ज्ञानों का आलम्बन है- दु:ख, दु:खसमुदय, दु:खनिरोध और अष्टाङ्गमार्ग। दु:खज्ञान, दु:खसमुदयज्ञान, दु:खनिरोधज्ञान और अष्टाङ्गमार्गज्ञान।

धर्मज्ञान अन्वयज्ञान तथा उपर्युक्त चार प्रकार के दु:खादि ज्ञानों का पुन: अन्यदृष्टि से दो प्रकार से विभाजन किया जा सकता है— क्षयज्ञान और अनुत्पादज्ञान (७.४)।

ज्ञान के प्रकारों का चार विभिन्न दृष्टियों से वर्गीकरण किया गया है— १. सास्रव तथा अनास्रव २. धर्मज्ञान और अन्वयज्ञान ३. दु:ख ज्ञानादि चार प्रकार ४. क्षयज्ञान और अनुत्पाद ज्ञान।

ये दोनों क्षयज्ञान और अनुत्पाद ज्ञान जब सर्वप्रथम होते हैं तब इन्हें क्रमश: दु:खहेतु, दु:खसमुदय और अन्वयज्ञान कहा जाता है।

क्षयज्ञान और अनुत्पादज्ञान में भेद (७.७)

क्षयज्ञान में ज्ञान के विषय का निश्चयात्मक परिज्ञान होता है। साधक को दु:ख का परिज्ञान होता है तथा वह जानता है कि दु:ख के कारण का मैंने परिहाण कर लिया है और दु:ख निरोध मार्ग का साक्षात्कार कर लिया है। इस प्रकार के परिज्ञान से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को क्षय ज्ञान कहते हैं। इसी को दूसरे शब्दों में ज्ञानदर्शन, विद्या, बुद्धि, बोधि, प्रज्ञा, आलोक, अभिसमय कहते हैं।

ज्ञान के दस प्रकार हैं— धर्मज्ञान, अन्वयज्ञान, सम्वृतिज्ञान, दु:खज्ञान, दु:खसमुदयज्ञान, निरोधज्ञान, मार्गज्ञान, परचित्तज्ञान, क्षयज्ञान और अनुत्पाद ज्ञान।

मुख्य रूप से ज्ञान तीन प्रकार के हैं (७.८)— किन्तु इन्हीं को दस प्रकारों में विभाजित किया गया है, जिसके कारण सात हैं—स्वभाव, प्रतिपक्ष, आकार, आकारालम्बन, प्रयोग, कृत्याकृत्य और हेतुप्रत्यय। दु:ख, समुदय, निरोध और मार्ग—ये चारों अपने-अपने आकारों के द्वारा परिवर्तित होते हुए प्रत्येक चार-चार भागों में विभक्त होकर सोलह प्रकार के ज्ञान बन जाते हैं (७.१०)।

अनास्रव स्वलक्षणाकार होता है या नहीं

काश्मीरी वैभाषिकों के अनुसार अनास्रव का कोई आकार नहीं होता। यह सोलह आकारों से मुक्त होता है, किन्तु बहिर्देशक आचार्यों के अनुसार यह साकार होता है (७.११)।

धी, प्रज्ञा और ज्ञान ये परस्पर पर्याय हैं। परचित्त ज्ञान तीन प्रकार का है— वेदनाचितधर्म, स्मृति और उपस्थान (७.१६)।

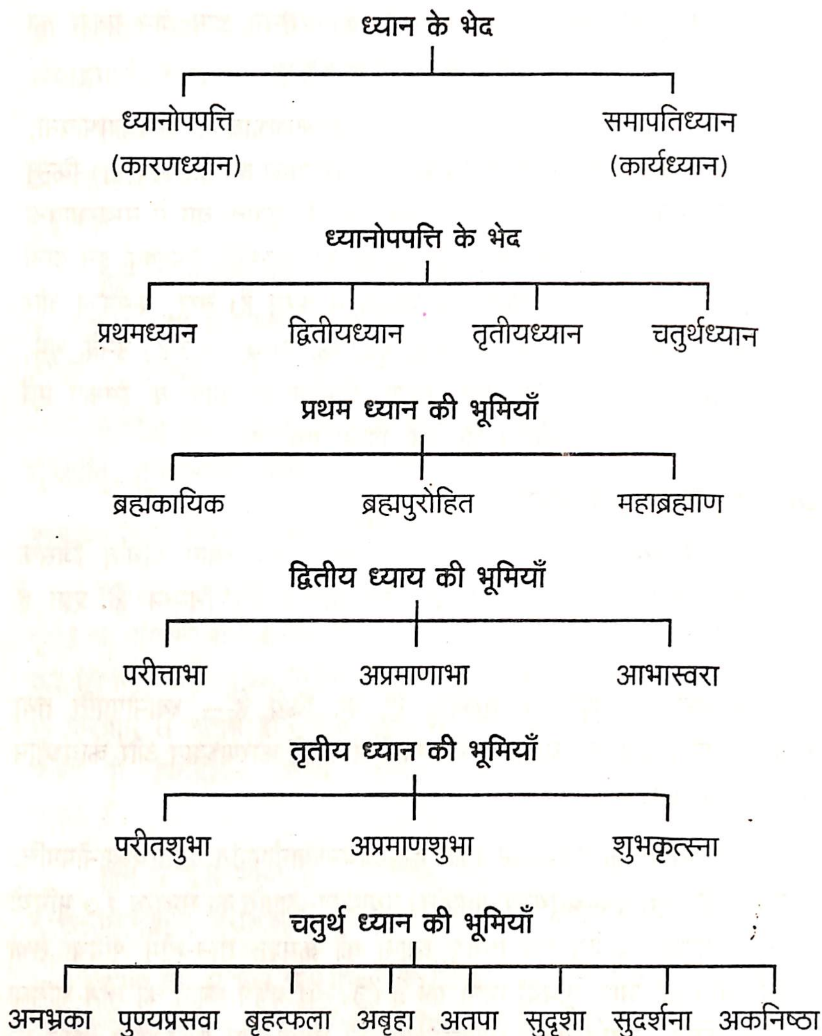
भावना चार प्रकार की है। यथा— प्रतिलम्भभावना, निषेवणभावना, प्रतिपक्षभावना और निर्विधावनभावना। यह मत वैभाषिकों का है (७.२७)। किन्तु बाह्य अभिधार्मिकों के मतानुसार यह छ: प्रकार की है। पूर्वोक्त चार में सम्वरभावना और विभावन भावना को भी जोड़ दिया जाता है। काश्मीरी वैभाषिक इन दोनों का समावेश प्रतिपक्ष और निर्वाचन भावनाओं में करते हैं। बल, कर्मफल और स्वभावभूमि, वैशाराद्य, महाकरुणा, सभी बुद्धों का साम्य (७.३४) उनके धर्म, ध्यान, बुद्धगों, अभिज्ञा, ध्यानभूमि, विद्या, निर्माणचित्त आदि के स्वरूप एवं प्रकारों का तुलनात्मक विवेचन भी यहाँ किया गया है।

ध्यान का लक्षण एवं प्रकार

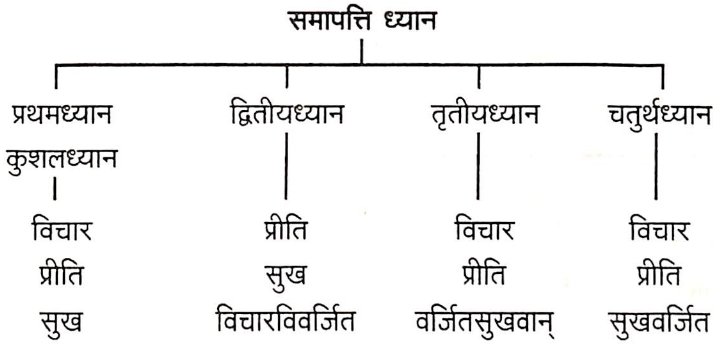
जिससे ध्यान किया जाता है, वह ध्यान है। ध्यान अर्थात् जिसके द्वारा जाना जाये। ध्यान में ध्या धातु चिन्तनार्थक है। चिन्तन ही प्रज्ञा है (८.१)।

ग्रन्थकार ने ध्यान के मुख्यत: दो भेद किये हैं— ध्यानोपपत्ति तथा समापतिध्यान। इन्हीं को यशोमित्र ने अपनी टीका में कारणध्यान और कार्यध्यान कहा है (८.१)।

ध्यानोपपत्ति के चार प्रधान प्रकार हैं— प्रथमध्यानोपपत्ति, द्वितीयध्यानोपपत्ति, तृतीयध्यानोपपत्ति तथा चतुर्थध्यानोपपत्ति। प्रथमध्यानोपपत्ति का सम्बन्ध १७ भूमियों से है— प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय ध्यानों की क्रमश: तीन-तीन भूमियाँ तथा चतुर्थ ध्यान की आठ भूमियाँ मानी गई हैं (३.२)। प्रथम ध्यान की तीन भूमियों के नाम क्रमश: ब्रह्मकायिक, ब्रह्मपुरोहित तथा महाब्रह्माण हैं। द्वितीय ध्यान की तीन भूमियाँ परीत्ताभा, अप्रमाणाभा और आभास्वरा कही जाती हैं। तृतीय ध्यान के अन्तर्गत क्रमश: परीतशुभा, अप्रमाणशुभा तथा शुभकृत्स्ना नामक भूमियाँ परिगणित हैं। चतुर्थ ध्यान में आठ भूमियाँ इस प्रकार मानी गई हैं— अनभ्रका, पुण्यप्रसवा, बृहत्फला, अबृहा, अतपा, सुदृशा, सुदर्शना और अकनिष्ठा (३.२)।



समापत्तिध्यान शुभ के प्रति एकाग्रता को कहते हैं। ''समापत्ति शुभैकाग्र्यम्'' (अभिका०, ८.१)। समापत्तिध्यान भी चतुर्विध है— प्रथमध्यान कुशलएकाग्रता है, जिसमें विचार, प्रीति और सुख का समावेश होता है। द्वितीयध्यान विचार से शून्य, किन्तु प्रीति और सुख से सम्पन्न होता है। तृतीय ध्यान में विचार और प्रीति की शून्यता तथा सुख का समावेश होता है तथा चतुर्थ ध्यान विचारादि तीनों से परे होता है (८.२)।



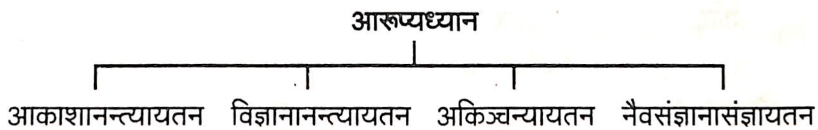
२. आरूप्य का लक्षण एवं प्रकार

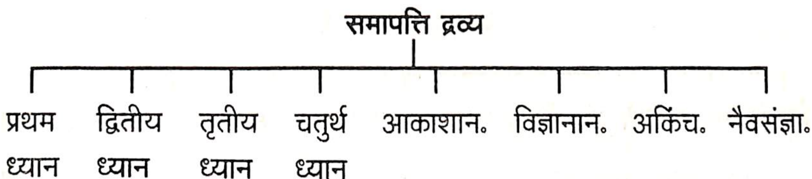
जो रूप नहीं है, वह आरूप्य है अर्थात् जिसमें रूप का अभाव होता है, वह आरूप्य है (३.३)।

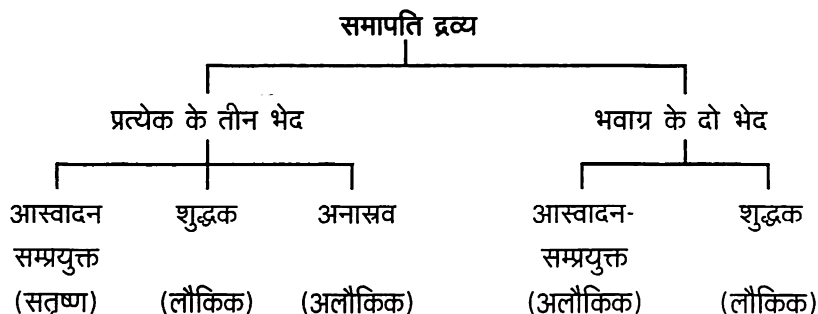
आरूप्यध्यान के चार भेद बताये गये हैं— आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, आकिञ्चन्यायतन और नैवसंज्ञानासंज्ञायतन (८.२)।

समापतिद्रव्य (चारध्यान एवं चार आरुप्य) आठ प्रकार के होते हैं— प्रथमध्यान, द्वितीयध्यान, तृतीयध्यान, चतुर्थध्यान, आकाशानन्त्यायन, विज्ञानानन्त्यायन, अकिंचन्यायतन और नैवसंज्ञानासंज्ञायतन (८.५)।

भवाग्र को छोड़कर प्रत्येक समापत्ति द्रव्य के तीन भेद होते हैं— आस्वादनासम्प्रयुक्त (सतृष्ण) शुद्धक (लौकिक) और अनास्रव (अलौकिक)। भवाग्र के दो भेद होते हैं— आस्वादनासम्प्रयुक्त (सतृष्ण) और शुद्धक (अलौकिक) (८.५-६)।

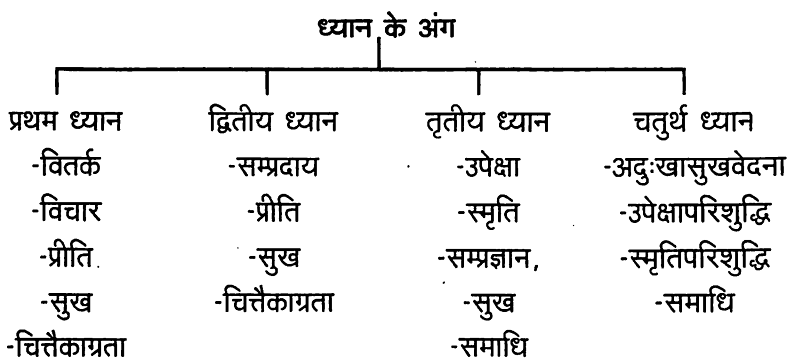


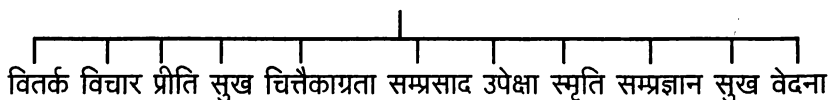




ध्यान के अंग

प्रथम ध्यान के पाँच अङ्ग होते हैं— वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और चित्तैकाग्रता। इसी तरह क्रमशः द्वितीयध्यान के चार, तृतीय ध्यान के पाँच और चतुर्थध्यान के चार अङ्ग होते हैं। द्वितीय ध्यान सम्प्रदाय, प्रीति, सुख और चित्तैकाग्रता (८.७)। तृतीयध्यान— उपेक्षा, स्मृति, सम्प्रज्ञान, सुख और समाधि, तथा चतुर्थध्यान- अदुःखसुखवेदना, उपेक्षापरिशुद्धि, स्मृतिपरिशुद्धि और समाधि (८.८)। इस प्रकार कुल मिलाकर ध्यान के १८ अङ्ग होते हैं, लेकिन द्रव्यतः ग्यारह होते हैं— वितर्क, विचार, प्रीति, सुख, चित्तैकाग्रता, सम्प्रदाय, उपेक्षा, स्मृति, सम्प्रज्ञान, सुख और वेदना (८.९)।





शुद्धध्यान चार प्रकार के हैं— हानभागीय, स्थितिभागीय, विशेषभागीय

और निर्वेधभागीय (८.१७)।

समाधि के स्वरूप एवं प्रकार

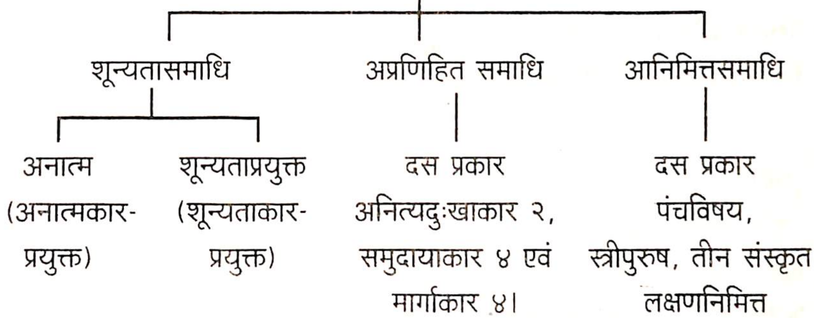
सभी चित्तों की एकाग्रता समाधि है (८.१)।

समाधि के मुख्य तीन भेद हैं— सवितर्कसविचारसमाधि, अवितर्कविचारमात्रसमाधि और अवितर्कअविचारमात्रसमाधि (८.२३)। वसुबन्धु ने अन्य दृष्टि से पुनः तीन प्रकार की समाधि का उल्लेख किया है। शून्यतासमाधि, अप्रणिहितसमाधि और आनिमित्तसमाधि (८.२३)। शून्यतासमाधि दो प्रकार की है— अनात्म (अनात्मकारसम्प्रयुक्त) और शून्यतासम्प्रयुक्त अर्थात् शून्यताकारसम्प्रयुक्त (८.२४)। अप्रणिहितसमाधि दस प्रकार की होती है (८.२४)। अनित्यदुःखताकार दो, समुदायाकार चार और चार मार्गाकार। अनिमित्तसमाधि भी दस प्रकार की हैं— पाँच पञ्चविषय, स्त्री-पुरुष, तीन संस्कृत और लक्षणनिमित्त।

समाधि के भेद

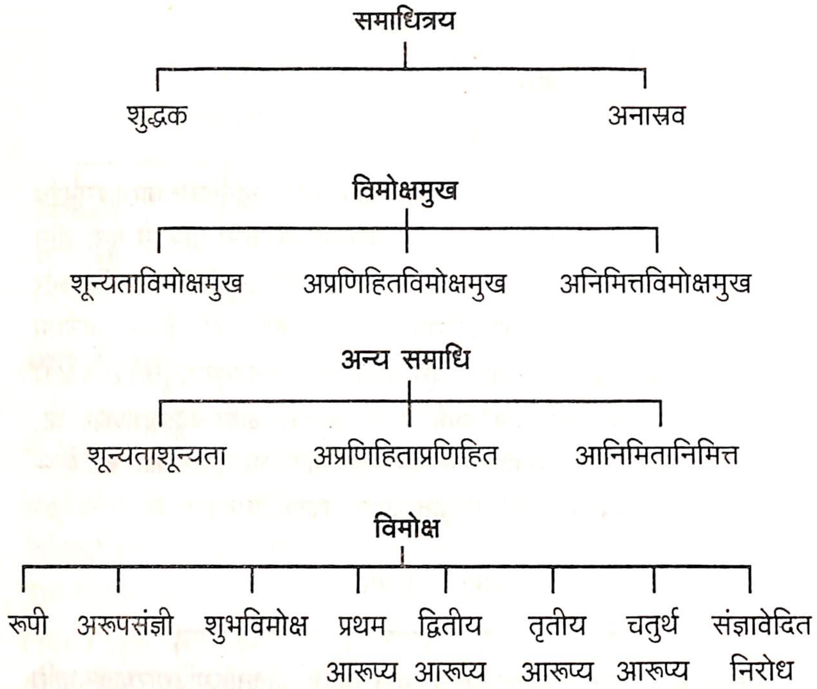


पुनः समाधि के भेद



समाधित्रय के दो भेद हैं— शुद्धक और अनास्रव। यह लौकिक और लोकोत्तर है (८.२५)। विमोक्षमुख तीन प्रकार के हैं— शून्यताविमोक्षमुख, अप्रणहितविमोक्षमुख और अनिमित्तविमोक्षमुख (८.२५)। अन्यसमाधि तीन प्रकार की है— शून्यताशून्यता, अप्रणिहिताप्रणिहित और अनिमित्तानिमित (८.२५)।

विमोक्ष आठ प्रकार के हैं— रूपी, अरूपसंज्ञी, शुभविमोक्ष, प्रथमआरूप्य, द्वितीय आरूप्य, तृतीय आरूप्य, चतुर्थआरूप्य और संज्ञावेदितनिरोध (८.३२)।


समाधित्रय
शुद्धक
अनास्रव
विमोक्षमुख
शून्यताविमोक्षमुख
अप्रणिहितविमोक्षमुख
अनिमित्तविमोक्षमुख
अन्य समाधि
शून्यताशून्यता
अप्रणिहिताप्रणिहित
आनिमितानिमित्त
विमोक्ष
रूपी
अरूपसंज्ञी
शुभविमोक्ष
प्रथम आरूप्य
द्वितीय आरूप्य
तृतीय आरूप्य
चतुर्थ आरूप्य
संज्ञावेदित निरोध

षष्ठ अध्याय

पञ्चस्कन्धप्रकरण आदि ग्रन्थ : वैशिष्ट्य एवं विषयवस्तु

१. पञ्चस्कन्धप्रकरण

प्रकरण का लक्षण

शास्त्रैकदेशसम्बद्धं, शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।
आहुः प्रकरणं नाम, ग्रन्थभेदं विपश्चितम्।।

शास्त्र के किसी एक अंश का विशद् विवेचन जिस रचना में होता है, वह प्रकरण ग्रन्थ कहलाता है और उसका विवेचन शास्त्र से भिन्न प्रकार का होता है।

प्रारम्भ, शैली एवं वैशिष्ट्य

पञ्चस्कन्धप्रकरण ग्रन्थ के प्रारम्भ में आचार्य वसुबन्धु ने किसी भी प्रकार का मंगलाचरण नहीं किया है। अपितु आचार्य ने प्रारम्भ में ही पाँच स्कन्धों का उल्लेख किया है। गद्य शैली में लिखी गई इस पुस्तक में आचार्य ने कहीं भी पक्षान्तर का उल्लेख नहीं किया है।

अन्य आचार्यों ने शास्त्र की प्रवृत्ति तीन प्रकार की मानी है— उद्देश्य, लक्षण और परीक्षा, "त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः उद्देशः लक्षणं परीक्षा चेति" (वस्तु संकीर्तनं नामोद्देशः) अर्थात् तत्वों के स्वरूप चिन्तन में नामोल्लेख मात्र करना उद्देश कहा जाता है। इसमें तत्व के स्वरूप का विस्तृत तथा तुलनात्मक और सयुक्तिक विवेचन नहीं किया जाता है। वसुबन्धु ने पञ्चस्कन्धप्रकरण के अधिकारों का नाम उद्देश रखा है (स्कन्धोद्देश, आयतनोद्देश, धातूद्देश)। इससे यह प्रकट होता है कि इस ग्रन्थ में लेखक केवल तत्वों के नाम व प्रकारों का ही साधारण उल्लेख करना चाहता है। वह तत्वों के गहन विवेचन को यहाँ अपना लक्ष्य नहीं मानता है। यही कारण है कि इस ग्रन्थ में अन्य आचार्यों, ग्रन्थों इत्यादि का पूर्वपक्ष के रूप में उल्लेख और तुलनात्मक विवेचन उपलब्ध

नहीं होता है। इसकी गद्यमयी सरल शैली इसके प्रतिपाद्य को और अधिक ग्राह्य बना देती है।

वसुबन्धु के द्वारा स्कन्ध, आयतन और धातु के प्रकारों का यह संकलन बौद्ध तत्त्वमीमांसा के प्राथमिक ज्ञान के लिए उपयोगी है, किन्तु इसके अध्ययन की पूर्णता के लिए अन्य ग्रन्थों से इन तत्त्वों के तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता विशिष्ट जिज्ञासु को होती है। यह ग्रन्थ अपने सीमित लक्ष्य में सफल कहा जा सकता है।

यद्यपि ग्रन्थ का नाम "पञ्चस्कन्धप्रकरण" है, किन्तु स्कन्धों का विवरण केवल प्रथम अधिकार में है, जबकि दूसरे और तीसरे में क्रमशः आयतन और धातु का विवरण है।

प्रमुख प्रतिपाद्य

प्रथम अधिकार : स्कन्धोद्देशनिर्देशक

स्कन्ध का लक्षण एवं प्रकार

राशि, काल, गोत्र, आकार, गति और विषय भाव से भिन्न रूप आदि को लेकर जो एकत्र करता है, वह स्कन्ध है (११९)।

स्कन्ध के पाँच भेद हैं— रूपस्कन्ध, वेदनास्कन्ध, संज्ञास्कन्ध, संस्कारस्कन्ध और विज्ञानस्कन्ध।

रूपस्कन्ध— रूप के दो भेद हैं— महाभूत और उपादायरूप। जो कुछ रूप हैं, वे सभी महाभूतों के अन्तर्गत हैं तथा इन महाभूतों को लेकर जो साथ रहता है, वह उपादायरूप है।

महाभूत— महाभूत चार प्रकार के हैं— पृथ्वीधातु, अब्धातु, तेजधातु और वायुधातु (३)।

उपादायरूप (९-१९)— उपादाय के ग्यारह प्रकार हैं— चक्षु इन्द्रिय, श्रोत्र इन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, जिह्वा इन्द्रिय और काय इन्द्रिय तथा इन इन्द्रियों के विषय रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य और अविज्ञप्ति हैं।

अविज्ञप्ति— जो अचितक है, उसका महाभूत हेतुक कुशल और अकुशल प्रवाह अविज्ञप्ति कहलाता है। अथवा समाधि अवस्था में अनेक प्रकार की विज्ञप्तियाँ आती जाती रहती हैं, इन सबका ज्ञान प्राप्त नहीं होना अविज्ञप्ति कहलाता है।

वेदनास्कन्ध— वेदना तीन प्रकार के अनुभव को कहते हैं— सुख, दुःख, तथा न दुःख न सुख (२०-२३)।

संज्ञास्कन्ध— विषय-निमित्त के कारण जिसका ज्ञान उत्पन्न होता है, वह संज्ञास्कन्ध है (२४)।

संज्ञास्कन्ध तीन प्रकार का है— परित्ता, महद्गता और अप्रमाणा (२५)।

संस्कारस्कन्ध— वेदना और संज्ञा से अतिरिक्त चैतसिक धर्म संस्कार स्कन्ध है। यह दो प्रकार का है— चैतसिकधर्मसंस्कार और चित्तविप्रयुक्तसंस्कार।

चैतसिकधर्मसंस्कार— जो धर्म चित्त के साथ सम्प्रयुक्त होते हैं, वे चैत्र धर्म हैं (२७)।

चैत्रधर्मों के प्रकार— स्पर्श, मनस्कार, वेदना, संज्ञा, चेतना, छन्द, अधिमोक्ष, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा, श्रद्धा, ह्री, अपत्रपा, अलोभ, कुशलमूल, अद्वेष, कुशलमूल अमोह, कुशलमूल, वीर्य, प्रश्रब्धि, अप्रमाद, उपेक्षा, अविहिंसा, राग, प्रतिघ, मान, अविद्या, दृष्टि, विचिकित्सा, क्रोध, उपनाह, म्रक्ष, प्रदाश, ईर्ष्या, मात्सर्य, माया, शाठ्य, मद, विहिंसा, आह्रीक्य, अनपत्राप्य, स्त्यान, औद्धत्य, आश्रद्धेय कौशीद्य, प्रमाद, मुषितास्मृति, विक्षेप, अप्रसजन्य, कौकृत्य, मिद्ध, वितर्क और विचार (२८)। इस प्रकार कुल मिलाकर चैत्त धर्म ५२ होते हैं। उपर्युक्त पाँच सर्वत्रग हैं, पाँच प्रतिनियत विषय हैं, ग्यारह कुशल हैं, ६ क्लेश हैं और शेष सब उपक्लेश हैं (२९)।

चित्तविप्रयुक्तसंस्कार— जो रूप चित्त चैत्त के अन्तर्गत बताये गये हैं, वे दूसरी जगह नहीं पाये जाते हैं, उन्हीं को चित्तविप्रयुक्त कहते हैं। प्राप्ति, असंज्ञिसमापत्ति, निरोधसमापत्ति, आसंज्ञिक, जीवितेन्द्रिय, निकायसमागता, जाति, जरा, स्थिति, अनित्यता, नामकाय, पदकाय, व्यञ्जनकाय, पृथग्जनत्व— ये सब चित्तविप्रयुक्तसंस्कार हैं (९३-९४)।

विज्ञानस्कन्ध— विषय की विज्ञप्ति अर्थात् ज्ञान होना ही विज्ञान है। चित्त और मन विज्ञान के ही पर्याय हैं (११२)।

यहाँ विज्ञान के चार भेद बताये गये हैं— आलयविज्ञान, प्रवृत्तिविज्ञान, आलम्बनविज्ञान और मन।

आलयविज्ञान— मूल चित्त आलयविज्ञान है तथा इसमें सभी संस्कारों का बीज संचित रहता है। इस आलय विज्ञान से ही सभी विज्ञान उत्पन्न होते

हैं। यह आलय विज्ञान ही सर्व संस्कारों का बीजालय, आत्मभावालय और आत्मभाव में हेतु रूप से ग्रहण किया जाता है। यह आलयविज्ञान ही सभी विज्ञानों को आधार प्रदान करता है (११४)।

प्रवृत्तिविज्ञान— निरोधसमापत्ति और असंज्ञिसमापत्ति- इन दोनों से होने वाला विषय का जो ज्ञान है, वह प्रवृत्ति विज्ञान है।

आलम्बनविज्ञान— संसार में प्रवृत्ति या निवृत्ति रूप से जो विषय के आधार पर प्रवृत्त होता है, वह आलम्बन विज्ञान है।

मन— आलयविज्ञान का आश्रय लेकर नित्य आत्ममोह, आत्मदृष्टि, आत्मा का आत्मा से स्नेह भाव से सम्प्रयुक्त विज्ञान समान जातीय सन्तानवर्ती जो धर्म है, वही मन कहलाता है। अर्हत् अवस्था और आर्यमार्गनिरोध समापत्ति के समय यह मन निरुद्ध हो जाता है।

द्वितीयाधिकार : आयतनोद्देशनिर्देशक

आयतन लक्षण— जो विज्ञान की उत्पत्ति का द्वार हो, उस उपादायरूप तत्व को आयतन कहते हैं (१३२)।

द्वादशप्रकार एवं स्वरूप— चक्षु आयतन, रूप आयतन, श्रोत्र आयतन, शब्द आयतन, घ्राण आयतन, गन्ध आयतन, जिह्वा आयतन, रस आयतन, काय आयतन, स्प्रष्टव्यायतन, मन आयतन और धर्मायतन।

स्प्रष्टव्यायतन चार महाभूत हैं, जो विज्ञानस्कन्ध हैं और मन आयतन हैं। वेदना, संज्ञा, संस्कार, अविज्ञप्ति और असंस्कृत धर्मायतन हैं।

असंस्कृत के चार भेद हैं— आकाश, प्रतिसंख्यानिरोध, अप्रतिसंख्यानिरोध और तथता।

आकाश— जिसमें रूपी पदार्थ रह सकें अथवा जो रूप को स्थान दे, वह आकाश है।

प्रतिसंख्यानिरोध— जो निरोध विसंयोग है, वह प्रतिसंख्यानिरोध है।

अप्रतिसंख्यानिरोध— जो निरोध विसंयोग नहीं है, वह अप्रतिसंख्या-निरोध है।

तथता— ज़ो धर्म जिस रूप में है, उस धर्म को उसी रूप में जानना तथता है।

तृतीयाधिकार : धातूद्देशनिर्देशक

धातु लक्षण— आकारात्मक स्वरूप को धारण करने वाले उपादाय रूप तत्व को धातु कहते हैं (१४१)।

प्रकार एवं स्वरूप धातु १८ प्रकार के होते हैं— चक्षुधातु, रूपधातु, चक्षुर्विज्ञानधातु, श्रोतृधातु, शब्दधातु, श्रोतृविज्ञानधातु, घ्राणधातु, गन्धधातु, घ्राणविज्ञानधातु, जिह्वाधातु, रसधातु, जिह्वाविज्ञानधातु, कायधातु, स्प्रष्टव्यधातु, कायविज्ञानधातु, मनोधातु, धर्मधातु और मनोविज्ञानधातु।

स्कन्ध, आयतन व धातु के क्रम से धर्म-देशना का प्रयोजन—स्कन्ध आदि के क्रम से यह उपदेश तीन प्रकार से दिया गया है। अथवा तीन प्रकार के आत्मभाव को जो समझते हैं, यह उपदेश उन्हीं के लिए है।

जो एकात्म ग्राही लोग हैं, उन लोगों के लिए पाँच स्कन्धों का उपदेश दिया गया है, जो इन्द्रिय को आत्मभाव रूप में मानने वाले हैं, उनके लिए बारह आयतन का उपदेश दिया गया है। जो कारक तत्वों को आत्मा के रूप में मानने वाले हैं, उनके लिए १८ धातुओं का उपदेश दिया गया है।

अत: स्कन्ध, आयतन एवं धातु का उपदेश अधिकारिभेद के अनुसार है।

२. मध्यान्तविभागभाष्य

नाम की सार्थकता

भगवान् बुद्ध ने अपने प्रथम उपदेश में कहा था कि— उनका मार्ग मध्यम मार्ग है तथा यह जीवन की तृष्णा एवं मृत्यु की इच्छा— इन दोनों अन्तों से बीच का है। बुद्ध के ६०० वर्ष बाद प्रादुर्भूत नागार्जुन ने भी अपने दर्शन को मध्यमक अथवा माध्यमिक कहा। इसके लगभग २०० वर्ष बाद रचे गये ग्रन्थ "मध्यान्तविभागकारिका" एवं "मध्यान्तविभागभाष्य" में अन्तों से मध्यम का विभाग बताया गया है।

मध्यान्तविभाग— इसका शाब्दिक अर्थ मध्य को दो अन्तों से अलग करना अर्थात् जीवन और मृत्यु इन दोनों से अलग बीच के मार्ग अर्थात् मध्यम मार्ग को प्रदर्शित करना है। अन्य शब्दों में भूत भविष्य इन दो अन्तों से वर्तमान अर्थात् मध्य को अलग करना ही इस ग्रन्थ का प्रयोजन है। वज्र, शुभ, अशुभ कर्म, अकर्म इत्यादि अन्तों से इनके मध्य का विभाग प्रदर्शित किया गया है।

जगत् का मूल कारण क्या व कैसा है तथा इसका भविष्य क्या है, प्रलय, विलय, संहार क्या है, कैसा है, दो छोर के इन चरम विचारों से ध्यान हटाकर वर्तमान जीवन पर वर्तमान क्षण पर ध्यान केन्द्रित करना ग्रन्थ नाम की सार्थकता है।

लेखक

मध्यान्तविभाग शास्त्र में किसी भी स्थान पर लेखक ने अपने सन्दर्भ में कोई सूचना नहीं दी है। न इस ग्रन्थ पर भाष्य लिखने वाले आचार्य ने ही इस ग्रन्थ के लेखक के सन्दर्भ में कोई सूचना दी है। इस स्थिति में यह विवाद का विषय बनता है कि इस ग्रन्थ का लेखक कौन है? परन्तु इस ग्रन्थ पर टीका लिखने वाले स्थिरमति का कहना है कि—

अस्य कारिकाशास्त्रस्यार्यमैत्रेयः प्रणेता वक्ता चास्याचार्यासङ्गः।
तस्माच्छ्रुत्वाचार्यवसुबन्धुस्तस्य भाष्यमकरोत्।।

इसके अतिरिक्त कुछ इतिहासकारों ने भी अपने ग्रन्थों में इस सन्दर्भ में सूचनाएँ दी हैं।

शुवान्च्वाँग के अनुसार— असंग ने तुषित लोक में बोधिसत्व मैत्रेय से योगाचारशास्त्र, महायानसूत्रालंकार, मध्यान्तविभंगशास्त्र आदि ग्रन्थ प्राप्त किये तथा उन्हें प्रचारित किया (पाण्डेय, गो०चं०, बौद्ध इ०, पृ० ४०६)।

तारानाथ के अनुसार[२]— असंग ने मैत्रेय से पाँच ग्रन्थों की प्राप्ति की थी (उपाध्याय बलदेव, बौद्ध मी०, पृ० २०२)।

बुस्तोन ने अपने बौद्ध धर्म के इतिहास में आचार्य मैत्रेय के नाम से पाँच ग्रन्थों का उल्लेख किया है— (पाण्डेय, गो०च०, बौद्ध० इ०, पृ० ४०६)।

१. महायानसूत्रालंकार २. धर्मधर्मताविभङ्ग ३. महायानउत्तरतंत्र ४. मध्यान्तविभङ्ग ५. अभिसमयालंकारिका।

इस प्रकार उपर्युक्त सूचनाओं से स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि मध्यान्तविभागशास्त्र मैत्रेयनाथ की रचना है, जिसे इन्होंने असङ्ग को दिया एवं असङ्ग के माध्यम से यह वसुबन्धु को प्राप्त हुई, जिसपर वसुबन्धु ने भाष्य लिखा।

कलेवर

मध्यान्तविभाग शास्त्र में पाँच परिच्छेद हैं। प्रथम लक्षणापरिच्छेद में २२,

द्वितीय आवरणपरिच्छेद में १७, तत्त्वपरिच्छेद नामक तृतीय परिच्छेद में २३, प्रतिपक्षभावनावस्थाफल नामक चतुर्थ परिच्छेद में १९ एवं पञ्चम आनुत्तर्य परिच्छेद में ३१ कारिकाएँ हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर ११२ कारिकाएँ हैं।

ग्रन्थ का स्वरूप व प्रतिपाद्यविषय

आचार्य मैत्रेयनाथ विज्ञानवाद सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य माने जाते हैं। अन्य ग्रन्थों की तुलना में यह ग्रन्थ विज्ञानवाद सम्प्रदाय का सर्वप्रथम् ग्रन्थ कहा जा सकता है।

मध्यान्तविभागशास्त्र प्रकरण ग्रन्थ नहीं है, क्योंकि प्रकरण के लक्षण के अनुकूल यह ग्रन्थ नहीं लिखा गया है। प्रकरण का लक्षण है कि शास्त्र के किसी एक अंश का विशद विवेचन जिस रचना में होता है, वह प्रकरण ग्रन्थ कहलाता है और उसका विवेचन शास्त्र से भिन्न होता है। इस ग्रन्थ में अन्य आचार्य का नामत: उल्लेख नहीं किया गया है। अन्य ग्रन्थ (५/१० पुण्यस्कन्ध) का उल्लेख एक स्थान पर किया गया है एवं सम्प्रदाय का उल्लेख (५/७ महायान) एक स्थान पर प्राप्त होता है।

मध्यान्तविभाग भाष्य में भी अन्य आचार्यों का उल्लेख नहीं किया गया है। अन्य ग्रन्थ का उल्लेख दो स्थानों पर, हीनयान सम्प्रदाय का उल्लेख एक स्थान पर, श्रावकयान का चार, प्रत्येक बुद्धयान का दो एवं महायान सम्प्रदाय का उल्लेख आठ स्थानों पर किया गया है।

महत्त्व एवं वैशिष्ट्य

मध्यान्तविभागशास्त्र को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ प्रधानतया योगाचार सम्प्रदाय का है। तिब्बती परम्परा में भी ऐसा माना गया है कि यह योगाभ्यास का प्रमुख ग्रन्थ है। इसमें बोधिसत्वों के आदर्शों की अनुभूति में रुचि प्रदर्शित की गई है।

वसुबन्धु ने मध्यान्तविभागभाष्य में शून्यता के सिद्धान्त को सर्वोपरि माना है, परन्तु उसकी व्याख्या इस प्रकार की है कि बन्ध और मोक्ष तथा आध्यात्मिक साधन अथवा योगचर्या वास्तविक बने रहें। इस प्रकार के सिद्धान्त को योगाचार ही कहना चाहिए, क्योंकि इस ग्रन्थ में परमस्थान विज्ञप्तिमात्रता का न होकर शून्यता के अनुकूल योगसाधन का है।

सन्दर्भ

मध्यान्तविभागशास्त्रकारिका एवं भाष्य में अन्य ग्रन्थ एवं सम्प्रदाय के उल्लेख का विवरण इस प्रकार है—

ग्रन्थ

मविका०, ५.१० पुण्यस्कन्ध

मविभा०, ३.१३ सन्धिविमोचनसूत्रे, वही ३.१९, बहुधातुकसूत्रानुसारम्।

सम्प्रदाय

हीनयान	-	मविभा०, ५.३०।
श्रावयकयान	-	मविभा०, ३.२२, २३; ४.१३; ५.१०।
प्रत्येकबुद्धयान	-	मविभा०, ४.१३ ; ३.२२।
महायान	-	मविका०, ५.७।
		मविभा०, ३.२२, २३; ५.१; ७, ९, ३०, ३२।

३. त्रिस्वभावनिर्देश

कलेवर

त्रिस्वभावनिर्देश वसुबन्धु रचित लघुतम ग्रन्थ है। इसमें कुल ३८ कारिकाएँ हैं। इस ग्रन्थ में तीन स्वभावों कल्पित, परतंत्र और परिनिष्पन्न का विज्ञानवाद के अनुसार प्रतिपादन किया गया है।

प्रमुख विवेच्य विषय

परिकल्पित, परतंत्र और परिनिष्पन्न ये तीन प्रकार के स्वभाव ही सुदृढ़ ज्ञान वाले यथार्थ—वेत्ताओं के जानने योग्य धर्म हैं (का०१)। जो घट आदि द्रव्य ख्यात प्रतीत होते हैं, वे परतंत्र हैं तथा जिसप्रकार ग्राह्य-ग्राहक-भाव से ख्यात होते हैं, वे परिकल्पित हैं। क्योंकि परतंत्र की सत्ता आत्मलाभ हेतु प्रत्ययों के अधीन है और परिकल्पित का अस्तित्व कल्पना से आरोपित मात्र है। ख्याति के अनुरूप उस परिकल्पित का जो सदा अभाव है, वही परिनिष्पन्न स्वभाव है।

अभूत परिकल्पित चित्तचैतसिक ख्यात होता है और दो रूपों अर्थात् ग्राह्य और ग्राहक के रूपों में ख्यात होता है तथा उस अविज्ञप्तिमात्रता में जो ग्राह्य-

ग्राहक का अभाव है, वही असत् कल्प की नास्तिता है (का० ४) । त्रैधातुक चित्त असत् कल्प है, क्योंकि इसके द्वारा धर्म कल्पित किये जाते हैं।

चित्त के दो भेद हैं। यथा— हेतुचित्त और फलचित्त। आलय नाम का विज्ञान हेतु चित्त है तथा सात प्रकार के प्रवृत्ति नामक विज्ञान फलचित्त हैं (का० ६) आलय नामक विज्ञान क्लेश या उसके वासना-बीजों से परिपुष्ट होता है इसलिए चित्त कहलाता है तथा सप्तविध प्रवृत्तिविज्ञान की प्रवृत्ति भिन्न-भिन्न आकारों को ग्रहण करते हुए होती है, इसलिए चित्त कहलाता है। इस प्रकार से अभूत परिकल्पित समस्त चित्त इन तीन प्रकारों में संग्रहीत हैं— वैपाकिक, नैमित्तिक एवं प्रातिभासिक। मूल विज्ञान (आलय विज्ञान) प्रथम वैपाकिक है, क्योंकि वह कुशल व अकुशलों का विपाक स्वरूप है तथा प्रवृत्ति विज्ञान नैमितिक और प्रातिभासिक है, क्योंकि ये अपने विषय में द्रष्टृत्वेन एवं ज्ञातृत्वेन प्रवृत्त होते हैं।

परिकल्पित स्वभाव सत् लक्षण भी है, क्योंकि उसका सत्वेन ग्रहण होता है एवं असत् लक्षण भी है, क्योंकि उसका अत्यन्त अभाव है (का० ११)। परतंत्र स्वभाव भी सत् लक्षण एवं असत् लक्षण दोनों है। क्योंकि वह भ्रान्ति के क्षेत्र में विद्यमान होता है। इसलिए सत् लक्षण है एवं जैसा प्रतिभास होता है वैसा वस्तु स्थिति में नहीं होने के कारण असत् लक्षण भी है। परिनिष्पन्न स्वभाव भी सत् लक्षण एवं असत् लक्षण दोनों है, क्योंकि अद्वयरूप से विद्यमान होने के कारण सत् लक्षण है तथा ग्राह्य-ग्राहक भाव से नहीं होने के कारण असत् लक्षण है।

बाल पृथग्जनों द्वारा कल्पित स्वभाव द्वयात्मक भी है और एकात्मक भी, क्योंकि कल्पित अर्थ (ग्राह्य और ग्राहक) सत् असत् परिकल्पित भेद से दो प्रकार के होते हैं तथा वह एकात्म भी है, क्योंकि न होना यही उसका एकमात्र स्वभाव है। परतंत्र नामक स्वभाव भी द्वयात्मक और एकात्मक है। ग्राह्य-ग्राहक द्वयरूप में (पृथक्त्वेन) भासित होता है, इसलिए द्वयात्मक है तथा भ्रान्त होना एक मात्र यही उसका स्वभाव है इसलिए एकात्मक भी है। परिनिष्पन्न स्वभाव भी द्वयात्मक और एकात्मक है। ग्राह्य-ग्राहक भावस्वभाव होने के कारण द्वयात्मक तथा अद्वय स्वभाव है, अत: एकात्मक है (का० १६)।

स्वभावद्वय (ग्राह्य-ग्राहक) के असत् होने से तथा उसके अभाव स्वभाव होने से परिकल्पित स्वभाव से परिनिष्पन्न लक्षण अभिन्न लक्षण है अर्थात् घट

से पट की भाँति भिन्न नहीं है। द्वयात्मभाव स्वभाव होने से परिनिष्पन्न से कल्पित स्वभाव अभिन्न लक्षण है अर्थात् घट से पट की भाँति भिन्न नहीं है।ख्याति के अनुरूप असत् होने से तथा उस प्रकार के अभाव-स्वभाव होने से परतंत्र स्वभाव से परिनिष्पन्न स्वभाव अभिन्न लक्षण है। द्वयस्वभाव के असत् होने से तथा प्रतीति के अनुरूप स्वभाव-रहित होने से परिनिष्पन्न स्वभाव से परतंत्र भी अभिन्न लक्षण है।

उपर्युक्त तीनों स्वभावों का प्रतिपादन व्यवहार के अधिकार की दृष्टि से एवं उनमें प्रवेश के अधिकार की दृष्टि से क्रमभेद जानने के लिए किया गया है (का० २२)।

परिकल्पित लक्षण व्यवहारात्मक है, परतंत्र लक्षण व्यवहार कारक स्वभाव वाला है तथा परिनिष्पन्न लक्षण समस्त व्यवहारों के समुच्छेद स्वभाव का है। द्वय (ग्राह्य-ग्राहक) अभावात्मक परतंत्र में प्रवेश पहले होता है। तदनन्तर उस परतंत्र में कल्पित मात्र प्रविष्ट होता है, जिसमें द्वैत सदा असद्भूत होता है। तदनन्तर (ग्राह्य-ग्राहक) अभाव स्वभाव परिनिष्पन्न लक्षण प्रविष्ट होता है (का० २२) इस तरह उस समय वह परिनिष्पन्न लक्षण ही भावाभाव स्वभाव कहलाता है। ये तीनों स्वभाव ही क्रमशः असद्भूत होने से एवं अतथाभूत होने से तथा कल्पिताभाव स्वभाव होने से अद्वयात्मक और आलम्बन लक्षण हैं। जिस प्रकार माया द्वारा निर्मित वस्तु मन्त्र आदि के वश से हस्ती आदि के रूप में प्रतीत होती है। फिर भी वहाँ आकार मात्र ही होता है। हस्ती तो वहाँ सर्वथा ही नहीं होता।

उपर्युक्त दृष्टान्त में हाथी परिकल्पित स्वभाव है, हस्त्याकृति परतंत्र स्वभाव है तथा उस आकृति में हस्ती का जो वस्तुतः अभाव है, वह परिनिष्पन्न स्वभाव है।[१] मूल चित्त आलय विज्ञान से समुद्भूत असत् कल्प प्रवृत्ति विज्ञान ग्राह्य-ग्राहक के रूप में प्रतिभासित होता है। वहाँ ग्राह्य ग्राहक तो सर्वथा असत् हैं। केवल आकार मात्र, विज्ञप्तिमात्र ही विद्यमान है। आलयविज्ञान मंत्र के समान है। काष्ठ आदि सामग्री के समान तथता अर्थात् परिनिष्पन्न लक्षण है। हस्त्याकार के समान विकल्प अर्थात् (चित्तचैतसिक) परतंत्र लक्षण है तथा हस्ती के समान ग्राह्य-ग्राहक द्वय अर्थात् परिकल्पित लक्षण है।

वस्तु की यथार्थ स्थिति (धर्मता) का साक्षात्कार हो जाने पर तीन लक्षणों का अवबोध एक साथ होता है, किन्तु परिज्ञा, प्रहाण व प्राप्ति क्रमशः इष्ट है (का० ३१)। परिज्ञा अर्थात् ग्राह्य-ग्राहक भाव के अनुपलम्भ का साक्षात्कार; प्रहाण

अर्थात् अख्याति (आरोपिताकार) का दिखाई न पड़ना एवं प्राप्ति अर्थात् जिसका निमित्त उपलम्भ-निरोध या प्रहाण हो।

ग्राह्य-ग्राहक द्रय के उपलम्भ से द्वैत-प्रतिभास सर्वथा विलुप्त हो जाता है। द्वैत-प्रतिभास का विलोप होने से ग्राह्य-ग्राहकभाव परिनिष्पन्न लक्षण अधिगत होता है। ठीक उसी प्रकार जैसे माया के विषय में हस्ती का अनुपलम्भ हस्त्याकृति का विलोप एवं काष्ठ आदि की उपलब्धि एक साथ होती है।

प्रतिपक्ष बुद्धि द्वारा विपक्षबुद्धि का प्रहाण कर देने और निर्वाह्यार्थता का दर्शन करने से तथा श्रुतिमयी, चिन्तामयी तथा भावनामयी प्रज्ञा का अभ्यास करने से अनायास मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है (का० ३५)। चित्त मात्र की उपलब्धि से ज्ञेय अर्थ (ग्राह्य ग्राहक) की उपलब्धि होती है तथा ज्ञेय अर्थ के अनुपलम्भ से ग्राहक चित्त का भी अनुपलम्भ होता है। ग्राह्य और ग्राहक दोनों के अनुपलम्भ से धर्मधातु (शून्यता) का उपलम्भ होता है तथा धर्मधातु के उपलम्भ से अनेक विभुत्वों की उपलब्धि होती है। स्वार्थ और परार्थ सम्पत्ति की सिंद्धि से विभुत्व प्राप्त बुद्धिमान् बोधिसत्काय त्रयात्मक (धर्मकाय, सम्भोगकाय और निर्माणकाय स्वरूप अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि को प्राप्त करता है।

४. विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि

कलेवर

वसुबन्धु विरचित विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि के दो भाग हैं— विंशतिका और त्रिंशिका। विंशतिका में २२ कारिकाएँ और त्रिंशिका में ३० कारिकाएँ हैं। विंशतिका पर स्वयं वसुबन्धु ने वृत्ति लिखी है एवं त्रिंशिका पर उनके शिष्य स्थिरमति ने भाष्य लिखा है। इस प्रकार कुल मिलाकर इस ग्रन्थ में ५२ कारिकाएँ हैं, जो अनुष्टुप् छन्द में हैं।

वैशिष्ट्यादि

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि विज्ञानवाद सम्प्रदाय का ग्रन्थ है। इसमें विज्ञप्तिमात्रता या निर्वाह्यार्थता के सिद्धान्त का प्रतिपादन तथा बाह्यार्थता के सिद्धान्त का खण्डन किया गया है। इसमें विज्ञप्तिमात्रता को युक्तिपूर्वक सिद्ध किया गया है। चित्त, मन, विज्ञप्ति आदि विज्ञान के पर्याय हैं एवं इसके अतिरिक्त किसी भी पदार्थ की सत्ता नहीं है। यहाँ एकमात्र विज्ञान को ही सत्य माना गया है।

इसमें यत्र-तत्र पूर्वपक्ष का विवेचन किया गया है, परन्तु मात्र एक स्थान (विंशतिका का० १२ की वृत्ति) को छोड़कर स्पष्टरूप से कहीं भी किसी आचार्य अथवा ग्रन्थ का उल्लेख नहीं किया गया है। इसमें काश्मीर वैभाषिकों का नामत: उल्लेख मिलता है— यद्यपि वैशेषिकों का साक्षात् उल्लेख नहीं है, तथापि उनके मत— परमाणुवाद - का खण्डन किया गया है।

यद्यपि वसुबन्धु ने विज्ञानवाद सम्प्रदाय से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया है, परन्तु इनके समस्त ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। यह ग्रन्थ उपलब्ध है। वसुबन्धु के विज्ञानवाद से सम्बन्धित अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा इस ग्रन्थ के अनेक भाषाओं में टीका-अनुवाद किये गये है। अत: विज्ञानवाद के अन्य ग्रन्थों की तुलना में इस ग्रन्थ की महत्ता व लोकप्रियता कुछ भिन्न है।

विशंतिका

जगत् की विज्ञप्तिमात्रता— विज्ञान एक मात्र सत्य है। चित्त, मन, विज्ञप्ति आदि विज्ञान के पर्याय हैं। इसके अतिरिक्त कोई भी पदार्थ सत्य नहीं है। इस बाह्य जगत् में जिन विषयों की उपलब्धि होती है तथा जिसको मानव अनेक वस्तुओं के रूप में जानता है, उन सभी पदार्थों के असत्य होने के कारण सब कुछ विज्ञप्तिमात्र ही है (विंका० १)।

विषय विज्ञप्ति और देशादि नियम—देशादि का नियम स्वप्न के समान सिद्ध है तथा सन्तान का अनियम प्रेतों के समान सिद्ध है। स्वप्न में उपघात अर्थात् स्त्री और पुरुष समागम के बिना शुक्र का विसर्जन होने के कारण लोक-व्यवहार भी सिद्ध है। फिर असत्य नरक-पाल आदि का दर्शन होना और उन नरकपालादि के द्वारा कष्ट प्रदान करने के कारण उपर्युक्त सारी बातें सिद्ध हैं (विंका०, ३-४)।

परमाणुवाद का खण्डन— बाह्य वस्तुओं के पारमार्थिक अस्तित्व को अधोलिखित तर्कों के द्वारा सिद्ध किया गया है—

वैशेषिक परमाणुओं को अवयवी के रूप में, परमाणुओं के रूप में या परमाणुओं के समूह के रूप में मानते हैं। किन्तु परमाणुओं की उपलब्धि अवयवी के रूप में नहीं हो सकती, क्योंकि अवयवों से भिन्न अवयवी का पारमार्थिक अस्तित्व नहीं है। पुन: यह परमाणुओं के रूप में अनेक भी नहीं हो सकता, क्योंकि एक-एक परमाणुओं की उपलब्धि नहीं हो सकती। परमाणुओं का समूह

भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि एकसाथ ६ परमाणुओं का योग होने से उसके छः अंश सिद्ध होंगे। इस प्रकार से वह पिण्डमात्र बन जायेगा। अवयवों से रहित होने के कारण परमाणुओं का संयोग सिद्ध नहीं हो सकता (विंका०, ११-१३)।

पुनः काश्मीर वैभाषिक कहते हैं कि निरवयव होने से परमाणुओं का संयोग नहीं होता, किन्तु संहत होने पर उनका परस्पर संयोग होता है (विंवृ०,,१२)। इस पर वसुबन्धु का कहना है कि यदि इन परमाणुओं का संयोग नहीं होता है तो संघात में किसका संयोग होता है। अतः परमाणुओं के निरवयव होने के कारण संयोग सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि सावयव संघात का भी संयोग नहीं होता है। अतः परमाणु एक द्रव्य नहीं है। चाहे परमाणु का संयोग हो या न हो, जिसका दिग्भाग भेद है, उसका एकत्व अयुक्त है, क्योंकि सूर्योदय होने पर छाया अन्यत्र होती है और आतप अन्यत्र (विंक०, १३)।

प्रत्यक्ष, स्मृति आदि की निर्विषयता— बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व की परीक्षा में बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व कल्पना मात्र सिद्ध होता है। घट-ज्ञान, पट-ज्ञान प्रभृति स्वप्नज्ञान के समान विषय से रहित ज्ञान होता है। क्योंकि जिस समय चक्षु द्वारा घट या पट देखा जाता है, उसी क्षण में मन द्वारा जानने का कार्य नहीं होता। पुनः जब मन द्वारा जानने का कार्य होता है, अर्थात् प्रत्यक्ष-बुद्धि होती है कि यह घट है, यह पट है, उस समय चक्षुर्ज्ञान समाप्त हो जाता है। अतः ऐसी अवस्था में घट का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इस प्रकार विषय-प्रत्यक्ष के असम्भव होने से यह स्पष्ट होता है कि विज्ञान वस्तुजन्य नहीं होता। अतः बाह्यवस्तु विज्ञानाभास है (विंका०, १६-१७)।

त्रिंशिका

विज्ञान परिणाम

आत्मा तथा धर्म-सम्बन्धी जो अनेक प्रकार के उपाय किये जाते हैं, वे सभी विज्ञान के आभास हैं। इनमें से किसी भी पदार्थ की वास्तविक सत्ता नहीं है। क्योंकि विज्ञान एक प्रवाहरूप होते हुए भी तीन रूपों में जाना जाता है। विपाक, मनन तथा विषयविज्ञप्ति ये तीनों विज्ञान के आभास हैं। इस प्रकार विपाक को आलयविज्ञान, मनन को क्लिष्ट मन तथा विषय-विज्ञप्ति को प्रवृत्ति-विज्ञान कहते हैं (त्रिंका०, १)।

विपाक

विपाक को आलयविज्ञान कहते हैं। आलय शब्द का अर्थ गृह स्थान होता है। आलयविज्ञान वह विज्ञान है, जो अन्य विज्ञानों का उत्पत्ति स्थान है या जिसके आश्रय से अन्य विज्ञानों की उत्पत्ति होती है। विपाक, वासना, संस्कार आदि विज्ञान के पर्याय हैं। अनादि काल से जिन वासनाओं का संचय होता है उन सभी वासनाओं का संचिताकाररूप आलयविज्ञान है। इस प्रकार योनि और जातियों में कुशल-अकुशल कर्मों का स्थान होने के कारण यह विपाक कहलाता है (त्रिंका०, २)।

मनन

विज्ञान का द्वितीय परिणाम मनन है। मनन को क्लिष्ट मन या सप्तम विज्ञान भी कहते हैं। इसका आश्रय आलयविज्ञान है। इसी के सहारे यह उत्पन्न होता है, लेकिन इतना होने के बाद भी आलय विज्ञान से अलग है, क्योंकि इसका स्वभाव मननात्मक है, इसका अर्थ है— "मैं", "मेरा" आदि भावनाओं से प्रवृत्त होना।

आलयविज्ञान से अलग होने का दूसरा कारण यह भी है कि यह चार उपक्लेशों से युक्त रहता है— आत्मदृष्टि, आत्ममोह, आत्ममान तथा आत्मस्नेह। इसकी अनुभूति अर्हत् (अर्थात् जो शुद्ध ज्ञान या जो लोकोत्तर मार्ग को प्राप्त कर चुका है) को नहीं होती। केवल लोकव्यवहार में ही इसकी उत्पत्ति होती है (त्रिंका०, ५-७)।

विषयविज्ञप्ति

विज्ञान का तृतीय परिणाम विषयविज्ञप्ति है। इसे प्रवृत्तिविज्ञान भी कहते हैं। यह छ: प्रकार का होता है— चक्षुर्विज्ञान, श्रोतृविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान, कायविज्ञान तथा मनोविज्ञान। रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य तथा धर्म इसके विषय हैं। इनकी उपलब्धि ग्रहण या प्रतिपत्ति विषयों की उपलब्धि है। ये छ: विज्ञान कुशल, अकुशल, अव्याकृत होते हैं। यह सर्वत्रग, विनियत, कुशल, क्लेश, उपक्लेश, पाँच चैतसिक तथा तीन वेदनाओं से सम्प्रयुक्त होता है (त्रिंका०, ८-९)।

कर्मवासना

कुशल, अकुशल तथा आनेन्ज्य चेतना को कर्म कहते हैं। संसार का कारण ग्राहद्वयवासना के साथ कर्मवासना है। यही ग्राहद्वय वासना पूर्व आलयविज्ञान के क्षीण होने पर अन्य आलयविज्ञान को उत्पन्न करती है। जिस किसी समय

जो कुछ कर्म किया जाता है, वह अपना तद्रूप विपाक उत्पन्न करता है, जो आलयविज्ञान में संचित होता है, ऐसे विपाक को संस्कार कर्मबीज या वासना कहते हैं (त्रिंका०, १९)।

वस्तुओं का त्रिविध स्वभाव

वस्तुओं का तीन प्रकार का स्वभाव बताया गया है— परिकल्पित स्वभाव, परतन्त्र स्वभाव, परिनिष्पन्न स्वभाव।

परिकल्पित स्वभाव— जो वस्तु विकल्प का विषय है, वह वस्तु कल्पनामात्र है। उस वस्तु की पारमार्थिक सत्ता नहीं होने के कारण परिकल्पित अर्थात् अविद्यमान है। इसलिए वह वस्तु परिकल्पित स्वभाव है। परिकल्पित स्वभाव की पारमार्थिक सत्ता नहीं है।

परतंत्र स्वभाव—परतंत्र स्वभाव वाले पदार्थ विकल्प कारणों से उत्पन्न होते हैं। परतंत्र इसलिए हैं कि अपने से भिन्न हेतु प्रत्ययों पर इनका होना निर्भर करता है, अत: ये परतंत्र स्वभाव वाले त्रयभूमिक सांक्लेशिक विज्ञान हैं।

परिनिष्पन्नस्वभाव— वह वस्तु-विज्ञान जो समस्त विकल्पों से रहित, परिशुद्ध एवं निर्विकार है, वह परिनिष्पन्न स्वभाव है। परिनिष्पन्न स्वभाव वाली वस्तु सर्वक्लेशरहित परिशुद्धविज्ञान है। इसका कोई आकार नहीं होता। यह ग्राह्य-ग्राहक से रहित होने के कारण परिनिष्पन्न स्वभाव कहलाता है। (त्रिंका०, २०-२१)

विज्ञप्तिमात्रता की सिद्धि

लोक में आत्मा और धर्म की जो सत्ता मानी जाती है, वह सब विज्ञान का आभास है। विज्ञानपरिणाम से भिन्न आत्मा और धर्म का पारमार्थिक अस्तित्व नहीं है। बाह्य विषय की जो कल्पनाएँ की जाती हैं, वे सब स्वप्न के समान मिथ्या हैं। इनका पारमार्थिक अस्तित्व नहीं माना जा सकता। अत: सब कुछ विज्ञप्तिमात्र ही है (त्रिंका०, १७)।

तथता का स्वरूप

धर्म का जो परमार्थ रूप होता है, वह तथता है। परम अर्थात् लोकोत्तरज्ञान। अब इसके आगे कोई अन्यज्ञान नहीं होने के कारण यह परमार्थ कहलाता है। परिनिष्पन्न स्वभाव भी तथता है। शैक्ष तथा अशैक्ष की अवस्थाओं में तथा सभी काल में एक ही रूप में रहने के कारण वह तथता कहलाता है, वह तथता ही विज्ञप्तिमात्रता है (त्रिंका०, २५)।

परिशिष्ट-अ

वसुबन्धु-प्रणीत संस्कृत ग्रन्थों में उल्लिखित आचार्यों की सूची

आचार्य		सन्दर्भ
आर्यकौण्डिल्य	:	अभिभा॰, ६.५४.
आर्यमहाकाश्यप	:	वही, ७.५२.
कायत्यायनीपुत्र	:	वही, १.३, ३.२९, ४.९७, ५.२६.
कुमारजीव	:	वही, २.४५.
कुमारलात	:	वही, १.२९.
गौतमऋषि	:	विंवृ०, २०.
धर्मस्वामी	:	अभिभा०, ४.२९.
पूर्वाचार्य	:	अभिभा०, २.४४; ४.७५, १०९, १२४; ५.१९; ७.२१.
बुद्ध	:	विंका०, २१.
		विंवृ०, २१.
भगवान्	:	अभिभा०, १.१०,२०,४४; २.९,४१,४४, ४५,४६,४७,५५,६२; ३.८,१२,१८, २६,२७,२८,३२,३८,४०,४१,४३,५८, ६८,८३,८४,९६,१०१; ४.४,९,१८, ३१,३२,३४,४६,६०,७३,८५,९५, १०५,११७; ५.१९,२५,२७,३४,४२, ४४,४५; ६.३,७,१५; ७.११,३४,४८.
भदन्त	:	वही, १.२०, ४३; ३.१४; ४.४, ९७.
भदन्तघोष	:	वही, २.१०; ६.२०.
भदन्तघोषक	:	अभिभा०, २.४४; ४.१०३; ५.२६; ६.५४.

भदन्तधर्मत्रात	:	वही, १.३; ३.२९; ४.९७; ५.२६.
भदन्तधर्मसुभूति	:	वही, ३.५९.
भदन्तबुद्धदेव	:	वही, ३.३५; ५.२६.
भदन्तमहासाङ्घिक	:	वही, ५.२२.
भदन्त वसुमित्र	:	वही, १.४३; २.४४, ६२; ५.२६.
महामुने	:	त्रिंका०, ३०.
ऋषि	:	विंका०, २०.
वशिष्ठ	:	अभिभा०, ४.५८.
वर्षगण्य (वाद)	:	वही, ५.२७.
शाक्यमुनि	:	वही, ४.१००.
शारिपुत्र	:	वही, २.४४; ३.३, ४.
स्थविरनिरुद्ध	:	वही, ४.९५.
स्थविरानन्देनार्यवागीश	:	वही, ५.९.

परिशिष्ट-ब

वसुबन्धु-प्रणीत संस्कृत ग्रन्थों में उल्लिखित ग्रन्थान्तरों की सूची

ग्रन्थ		सन्दर्भ
अविपरीतकसूत्र	:	अभिभा०, ८.९.
आगम	:	वही, २.५५.
उदानवर्गीय	:	वही, १.३.
धर्मस्कन्ध	:	वही, ३.४.
धर्मसूत्रविभाष्य	:	वही, ३.९३.
निकायविभाषिका	:	४.२६.
निकायान्तरीया	:	वही, ३.१०,२८,४६,७२,९६; ४.१२, १२४; ५.९; ६.७२; ८.९.
प्रकरणग्रन्थ	:	वही, १.७,९; ३.४,२४,४१; ५.१०; ७.४५.
प्रज्ञप्ति	:	वही, ३.४, ६२.
प्रज्ञप्तिभाष्य	:	वही, २.४५; ३.१०२.
पुण्यस्कन्ध	:	मविका, ५.१०.
ब्रह्मजातसूत्र	:	अभिभा०, ३.२८.
ब्रह्मसूत्र	:	वही, ३.९६.
महाकर्मविभागसूत्र	:	वही, ५.६.
विभाषा	:	वही, १.२०, ४३; ४.३६.
बहुधातुकसूत्र	:	मविभा०, ३.१९.
शीलस्कन्धिका	:	अभिधा०, ४.८६.
सन्धिविमोचनसूत्र	:	मविभा०, ३.१३.
ज्ञानप्रस्थान	:	अभिमा०, २.४५, ४६; ५.१०.

●

परिशिष्ट-स

वसुबन्धु-प्रणीत संस्कृत ग्रन्थों में उल्लिखित सम्प्रदायों की सूची

सम्प्रदाय		सन्दर्भ
अभिधार्मिक	:	अभिभा०, १.३८,४३; ३.३,२९,३८,८५; ४.३४; ५.५, १३,२२; ६.३,६; ७.२७.
काश्मीरवैभाषिक	:	अभिका०, ८.४०; अभिभा०, १.३९,४३; २.४४, ४५,५१,५४; ४.३०,३१,३९; ५.२०, ३५; ८.४०; विंवृ०,१२.
प्रत्येकबुद्धयान	:	मविभा०, ३.२२; ४.१३.
पाश्चात्य	:	अभिभा०, २.४४.
महायान	:	मविका०, ५.७., मविभा०, ३.२२,२३; ५.१, ७, ९, ३०. विंवृ०, १.
महीशासक	:	अभिभा०, ३.३८, १००.
योगाचार	:	वही, ४.४.
बहिर्देशक	:	वही, २.३०, ४४; ४.३०; ७.१२.
विभज्यवादी	:	वही, ५.२५.
वैभाषिक	:	वही, १.३,७,११,१३,२०; २.१,१०,४१, ४४-७, ५५; ३.४, ७, २८, ३२, ३५,४०, ४१,६९; ४.१, ३, ४, ७, १२, २७, २९, ३२,३६,३९,५०,६५,६८,७५,९६, ११२; ५.१,६,९,१२,२४,२५,२७,६६; ६.५,१५,३४,४१,४२,४५,५८,६९,७०; ७.२१, ३७.
वैशेषिक	:	अभिभा०, २.४१.

●

परिशिष्ट-द

वसुबन्धु, कृतियाँ एवं अध्ययन

सङ्केत	:	तात्पर्य
अनु०	:	अनुवाद/अनुवादक
अं०	:	अंग्रेजी
ची०	:	चीनी
ति०	:	तिब्बती
सं०	:	सम्पादक
हि०	:	हिन्दी

वसुबन्धु

Frauwalner, The date of the Buddhist master of Law Vasubandhu, Siri Oriental, Rome, 1951.

Jaini, P.S., On the Theory of Two Vasubandus, Bulettin of the School of Oriental and African Studies, London, 1985.

Takakusu, A Study of Parmārtha's Life of Vasubandhu and the Date of Vasubandhu, J.J. Ra-A, So, London, 1905.

Takakusu, The Date of Vasubhandu : A Great Buddhist Philosopher, Indian Studies in the honour of Charls Rawk Well, Lan-man, Kambridge Mas. 1929.

T. Kimura, Date of Vasubhandhu seen from the Abhidharmkosha, Indian Studies in the Honour of Charls Rawk Well Lan man, Kambridge Mas. 1929.

लाल जी, अभिधर्म के विकास में आचार्य वसुबन्धु और आचार्य बुद्धघोष का योगदान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय (अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध), १९८७.

लाल जी, बौद्धदर्शन की महान् विभूति, प्रज्ञा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (शोधलेख), १९८७.

कृतियाँ एवं अध्ययन

अपरिमितायुः सूत्रशास्त्रम्, अनु०ची०, बोधिरुचि.

अभिधर्मकोशम्

अकीरा, हीराकावाँ, (अध्ययन) Index to the Abhidharmakosa, Tokyo, १९७३.

आचार्य नरेन्द्रदेव, (अनु०हि०), अभिधर्मकोशभाष्य, हिन्दुस्तानी एकेडमी उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद, १९५८, १९७३, १९८४.

गोखले, वी०बी० (सं०), अभिधर्मकोशभाष्य, जे०आर०ए०एस० (बम्बई), भाग २२, १९४६.

चौधरी, सुकोमल (अध्ययन), Analitical Study of the Abhidharmakosa, प्रकाशन फार्मा, के०एल०एम०प्राइवेट लि०,१९७६

जिनमित्र व कुटरक्षित (सं०), अभिधर्मकोशकारिकाभाष्य, ८१६ से ८३८.

जिनमित्र व पल-चेग्स-रक्षित (अनु०ति०), अभिधर्मकोशभाष्य.

जैनी, पी०एस० (सं०), अभिधर्मवृत्ति, काशी प्रसाद शोध संस्थान, पटना, १९४९.

ताकाकुसु (अध्ययन), On the Abhidharma of the Sarvastivada, जे०जे०पी०टी०एस०, १९०४-५.

तिवारी, महेश (अनु०अं०), अभिधर्मकोश प्रथम कोशस्थान कारिका, दिल्ली विश्वविद्यालय, १९८७.

प्रधान, पी० (सं०), अभिधर्मकोशभाष्य, काशी प्रसाद जैसवाल अनुशीलन संस्थान, पटना, १९६७.

परमार्थ (अनु०ची०), अभिधर्मकोशभाष्य, ५६३-६७.

पानाडुरा, अभिधर्मकोशभाष्य (सिंहली में सं०), श्रीलंका, १९४८.

पुसें, (फ्रेंच अनु०), Abhidharmakosa of Vasubandhu, Peris, १९२३-३१.

मुंशी, सीमा अभिधर्मकोश (प्रथम कोशस्थान) में स्कन्ध की परिभाषा (शोधपत्र) परामर्श, पूना, १९९०.

मुंशी, सीमा वसुबन्धुप्रणीत संस्कृत ग्रन्थों में समाहित परिभाषाएँ, अप्रकाशित शोधप्रबन्ध, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, १९९४.

युवान्च्वाँग (अनु०ची०), अभिधर्मकोशभाष्य, ६५१-५४.

राय, उमेश, पञ्चस्कन्धप्रकरण एवं त्रिस्वभावनिर्देश : सानुवाद अध्ययन, अप्रकाशित शोधप्रबन्ध, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, १९९६.

राहुलसांकृत्यायन (सं०), अभिधर्मकोशशास्त्रम्, काशी विद्यापीठ, वाराणसी, १९३०.

ला, एन०एन० और दत्ता, एन० (सं०), अभिधर्मकोशभाष्य, कलकत्ता ओरियण्टल सीरिज, १९४९-५७.

वोगिहारा (सं०), स्फुटार्थअभिधर्मकोश व्याख्या, कलकत्ता ओरियण्टल सीरिज, १९३२-३६.

शास्त्री, स्वामी द्वारिकादास (सं०), अभिधर्मकोशभाष्य यशोमित्रकृत स्फुटार्था, बौद्ध भारती ग्रन्थमाला प्रकाशन, वाराणसी, १९८१.

ह्वेनसांग (अनु०ची०), अभिधर्मकोशभाष्य, १९२३-३१.

आर्यअक्षयमतिनिर्देश टीका, अनु० ति०.

आर्यगयाशीर्शनामसूत्रव्याख्या, अनु०ति०, सुरेन्द्रबोधि और येशेस-दे.

आर्यचतुर्धर्मकव्याख्यान, अनु०ति०.

आर्यदशभूमिव्याख्यान, अनु०ति०, मंजुश्रीगर्भ, प्रज्ञावर्मा, येशेस दे और पल-चेगस.

आर्यभगवतीप्रज्ञापारमितावज्रच्छेदिकासप्तार्थटीका, अनु०वि०, शोननु पल और छोस-क्ष्योङ-जङ-पो.

आर्यभद्राचर्याप्रणिधानटीका, अनु०ति०, आनन्द और भद्रपाल.

आर्यसम्मुखीधारणीव्याख्यान, अनु०ति०.

एकगाथाभाष्य, अनु०ति०.

कर्मसिद्धिप्रकरण, अनु०ति०, विशुद्ध सिंह, देवेन्द्र रक्षित और पल-चेगस्.

नयशीर्षशास्त्रम्, अनु०ची०, बोधिरुचि.

नयशीर्षसूत्रटीका.

गाथासंग्रह.

गाथासंग्रहशास्त्रनाम, अनु०ति०, धर्माकर और येशेस ज्रिङ्-पो और पल-चेगस.

गाथासंग्रहशास्त्रार्थनाम, अनु०ति०, धर्माकर, येशेस जिङ्-पो, और पल-चेगस.

तर्कशास्त्रम्, अनु०ची०, परमार्थ.

धर्मचक्रप्रवर्तनसूत्रोपदेश, अनु०ची०, विमोक्षप्रज्ञा.

धर्मधर्मताविभंगवृत्ति, अनु०ति०, महाज्ञान और लो-दन-शे-रब.

निर्वाणसूत्रपूर्वभूतोत्पन्नभूतगाथाशास्त्र.

पंचकामगुणोपलम्भनिर्देश, अनु०ति०, धर्मश्रीभद्र और रिन-सेन-जङ्-पो.

पंचस्कन्धप्रकरण.

एनेकर, स्टीफन (अनु०अ०), पंचस्कन्धप्रकरण, Seven Works of Vasubandhu, (पृष्ठ संख्या ६५ से ८२), मोतीलाल बनारसीदास, १९८६.

जिनमित्र, दानशील व येशेस् दे०, (अनु०ति०), पंचस्कन्धप्रकरण.

शास्त्री, शान्तिभिक्षु (अनु०अं०), पंचस्कन्धप्रकरण, कोलम्बो एपेथिकेरीज कम्पनी लिमिटेड, १२५ ग्लैनी स्ट्रीट, कोलम्बो-२, प्रथम संस्करण, १९६९.

शास्त्री, शान्तिभिक्षु (अनु०संस्कृत), पंचस्कन्धप्रकरण, सरस्वती सुषमा, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय पत्रिका, द्वितीय भाग, पृ० १-१२, सन् १९८५, संवत् २०१२.

प्रतीत्यसमुत्पादादिविभंगभाष्य, अनु०ति०, सुरेन्द्राकर प्रभ और नग-रवा.

परमार्थसप्तति.

बुद्धगोत्रशास्त्रम्, अनु०ची०, परमार्थ.

बोधिचित्तोत्पादनशास्त्रम्, अनु०ची०.

मध्यान्तविभागभाष्य.

एनेकर, स्टीफन (अनु०अं०), मध्यान्तविभागभाष्यम्, Seven Works of Vasubandhu,

(पृ० २१२-२८६), मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९८६.

एनेकर, स्टीफन (सं०), मध्यान्तविभागभाष्यम्, Seven Works of Vasubandhu (पृ० ४२४-४६३), मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९८६.

जिनमित्र, सुरेन्द्रबोधि और येशेस-दे (अनु०ति०), मध्यान्तविभागभाष्य.

परमार्थ (अनु०ची०), मध्यान्तविभागभाष्य, ५५७ से ५६९.

पाण्डेय, रामचन्द्र (सं०), मध्यान्तविभागशास्त्रम्, मोतीलाल बनारसीदास, प्रथम संस्करण, १९७१.

भट्टाचार्य, विधुशेखर, एवं जी०टुची (संस्कृत एवं ति०अनु०), मध्यान्तविभागभाष्य, प्रथम परिच्छेद, लुजाक एण्ड कम्पनी, लन्दन, १९३२.

श्चेरवात्सकी (अनु०अं०), मध्यान्तविभागभाष्य, मुन्शीराम मनोहरलाल, ५४ रानी झाँसी रोड, नई दिल्ली, १९७८.

महापरिनिर्वाणसूत्रशास्त्रम्, (अनु०ची०), धर्मबोधि.

महापरिनिर्वाणव्याख्या.

महायानसंग्रहभाष्य, (अनु०ति०), दीपंकर श्रीज्ञान और छुल्-ठिमस्-ग्यल्-व.

महायानसतधर्मप्रकाशद्वारशास्त्र, (अनु०ति०), छेस-कि-रिन-छेन.

महायानसम्परिग्रहशास्त्रव्याख्या, (अनु०ची०), परमार्थ.

महायानसूत्रालंकारटीका.

रत्नचूड़सूत्रचतुर्धर्मोपदेश, (अनु०ची०), विमोक्षप्रज्ञा.

वज्रच्छेदिकासूत्रशास्त्रम्, (अनु०ची०), बोधिरुचि.

व्याख्यायुक्ति (अनु०ति०), विशुद्धसिंह, शाक्यसिंह और देवेन्द्ररक्षित.

व्याख्यायुक्तिसूत्रखण्डसत (अनु०ति०), विशुद्ध सिंह, सर्वज्ञदेव, देवेन्द्ररक्षित और मंजूश्री वर्मा.

वादविधि.

विद्यामात्रसिद्धित्रिदशशास्त्रम्.

विवृतगुह्यार्थपिण्डव्याख्या. (अनु०ति०).

विशेषचिन्ताब्राह्मणपरिपृच्छासूत्रटीका. (अनु०ची०), बोधिरुचि.

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि.

एनेकर, स्टीफन (अनु०अं०), विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, (विंशतिका एवं त्रिंशिका), Seven works of Vasubandhu, (पृ० १६१-१८९), मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९८६.

एनेकर, स्टीफन (अनु०सं०), विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, (विंशतिका एवं त्रिंशिका), Seven works of Vasubandhu, (पृ० १३-२३), मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९८६.

चटर्जी, के०एन० विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, किशोर विद्या निकेतन, वाराणसी, १९८०.

चौधरी, सुकोमल, (अनु०बंगाली), विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, कलकत्ता, १९७५.

जेकोबी, एच० (अनु० जर्मन), विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, १९३२.

जिनमित्र, सुरेन्द्रबोधि एवं येशेस दे, (अनु०ति०) विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि.

उई (अनु० जपानी), विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, १९५२.

तिवारी, महेश, (अनु०हि०), विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९६७.

द्विवेदी, राधेश्यामधर (अध्ययन), वसुबन्धु तथा बर्कले का विज्ञानवाद, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षण संस्थान, सारनाथ, वाराणसी, १९८३.

परमार्थ (अनु०ची०), विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, सन् ५६३ से ५६७.

पुष्प, स्वामी महेश्वरानन्द, (संस्कृत व्याख्या), विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, गीता धर्म कार्यालय, मिश्रपोखरा, वाराणसी, १९६२.

फ्राऊवाल्नर, (अनु०जर्मन), विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, १९५६.

यामागुची, (अनु० जापानी), विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, १९५२.

वाग्ची, सितांशुशेखर (सं०), विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, नवनालंदा महाविहार, १९५७.

शास्त्री, घुबतनछोग्डुप् एवं त्रिपाठी, रामशंकर, (अनु०हि०), विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि प्रकरणद्वयम्, श्रीसम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९७२.

सिल्वालेवी, (अनु० फ्रेंच), विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, १९३२.

सिल्वालेवी, (सं०), विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, १९४०.

सिल्वालेवी, (सं०), विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, पेरिस, १९२५.

बुद्धानुस्मृति, (अनु०ति०), दानशील और पल्-चेगस् रक्षित.

शीलपरिवादनकथा, (अनु०ति०), जरन्धन और रिन्छेन्-जङ्-पो०

षट्शास्त्रव्याख्या, (अनु०ची०).

सद्धर्मपुण्डरीकटीका, (अनु०ची०), रत्नमति.

सद्वारोपदिष्टध्यानव्यवहारशास्त्रम्

समथविपश्यनाद्वारशास्त्रकारिका.

सप्तगुणपरिवादनकथा, (अनु०ति०), गंगाधर और रिन्-छेन्-जङ्-पो.

सप्तगुणविवरणकथा, (अनु०ति०), कमलगुप्त और रिन-छेन-जड़-पो.

सम्भारपरिकथा, (अनु०ति०), गंगाधर और रिन्-छेन्-जङ्-पो.

सूत्रालंकारव्याख्या, (अनु०ति०), शाक्यसिंह और पल-चेगस.

त्रिपूर्णसूत्रोपदेश, (अनु०ची०), विमोक्षप्रज्ञा.

त्रिरत्नस्तोत्र, (अनु०ति०).

त्रिस्वभावनिर्देश.

एनेकर, स्टीफन, (अनु० अं०), त्रिस्वभावनिर्देश, Seven Works of Vasubandhu, (पृ० २९१-२९६), मोतीलाल बनारसीदास, १९८६.

एनेकर, स्टीफन, (अनु० अं०), त्रिस्वभावनिर्देश, Seven Works of Vasubandhu, (पृ० ४६४-४६६), मोतीलाल बनारसीदास, १९८६.

मुखोपाध्याय, सुजितकुमार, त्रिस्वभावनिर्देश, (अनु०संस्कृत, ति०,अं०), विश्वभारती, १९३९.

शान्तिभद्र और गोस्-लास्-चस्, (अनु०ति०), त्रिस्वभावनिर्देश).

शास्त्री, थुवतनछोगडुप् एवं त्रिपाठी, रामशंकर, (अनु०हि०), त्रिस्वभावनिर्देश, विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिप्रकरणद्वयम्, (पृ० ४५१ से ४५८), सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, १९७२.

अन्य उपलब्धियाँ :

१. बौद्ध, वेदान्त एवं काश्मीर शैव दर्शन
लेखक : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास
विवेक पब्लिकेशन्स, अलीगढ़, १९८६
मूल्य : २५०.००

२. सिद्धित्रयी (उत्पलाचार्य विरचिता)
सम्पादन एवं अनुवाद : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास
चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९८८
मूल्य : १२५.००

३. जातकमाला (आर्यशूरप्रणीता)
अनुवाद एवं अध्ययन : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास
चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९९२
मूल्य : २००.००

४. पीयूषम् (आचार्य रामचन्द्र द्विवेदी स्मारिका)
सम्पादन : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास
प्रशान्त प्रकाशन, वाराणसी, १९९५
मूल्य : १००.००

५. गीतामृतम्
मूल लेखक : पं० गिरिधरलाल शास्त्री
अनुवाद एवं भूमिका : डॉ० यशवन्तकुमार जोशी
सम्पादक : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास
मूल्य : २५.००

६. उद्गार (डॉ० शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी के प्रति सहृदयों के)
सम्पादक : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास

आचार्य रामचन्द्र द्विवेदी-स्मृति-ग्रन्थमाला के प्रकाशन

मूल्य

प्रथम पुष्प

कालिदास के काव्य में सादृश्येतर अलंकार
लेखक : डॉ० विष्णुराम नागर
सम्पादक : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास १५०.००

द्वितीय पुष्प

तन्त्रालोक में कर्मकाण्ड
लेखिका : डॉ० बीना अग्रवाल
सम्पादक : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास ३००.००

तृतीय पुष्प

सांख्य एवं काश्मीर शैव दर्शन में सृष्टि
लेखक : डॉ० विजयशङ्कर द्विवेदी
सम्पादक : डॉ० कृष्णकान्त शर्मा १७५.००

चतुर्थ पुष्प

उन्मीलनम्
(म०म०पं० बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते अभिनन्दन ग्रन्थ)
सम्पादक : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास ५००.००

पञ्चम पुष्प

बौद्धाचार्य वसुबन्धु
लेखक : डॉ० मुनिराम तिवारी
सम्पादक : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास २००.००

षष्ठ पुष्प

मेदपाट-मण्डन पं० गिरिधरलाल शास्त्री
लेखक : डॉ० यशवन्त कुमार जोशी
सम्पादक : डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास ४००.००

प्रशान्त प्रकाशन
१२८, बालाजी कॉलोनी, नगवाँ, वाराणसी-२२१००५ (उ०प्र०)
फोन : ०५४२-३६६०६६